नारायणपण्डितसङ्गृहीतः

हितोपदेशः

(मूलपाठेन, अनुवादेन, विविध–विषय–विवरणेन,
कथानुक्र–मणिकायुतेन, श्लोकानुक्रमणिका,
परीक्षोपयोगि–प्रश्नपत्राद्यनेकविषयैश्च संयुतः)

भाषान्तरकार
पं. रामेश्वर भट्ट
सम्पादक
श्रीनारायण राम आचार्य

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
नई दिल्ली

नारायणपण्डितसङ्गृहीतः

हितोपदेशः

मूलपाठेन, अनुवादेन, विविध–विषय–विवरणेन, कथानक–
मणिकायुक्तेन, श्लोकानुक्रमणिका, पराक्षोपयोगि–
प्रश्नपद्याद्यनेकविषयैश्च संयुतः ।

भाषान्तरकार

पं. रामेश्वर भट्ट

सम्पादक

श्री नारायण आचार्य
'काव्यतीर्थ'

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन
56–57 इन्स्टीट्यूशनल एरिया जनकपुरी, नई दिल्ली – 110058

पुस्तकमिदं राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य पुनर्मुद्रणयोजनायां प्रकाशितम्।
पुस्तक में यदि कोई त्रुटि पाई जाती है, तो इसके लिये मुद्रक जिम्मेदार होगा।

प्रकाशक :
कुलसचिव
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
मानित विश्वविद्यालय
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन
56–57 इन्स्टीट्युशनल एरिया,
जनकपुरी, नई दिल्ली – 110058

पुनर्मुद्रित द्वितीय संस्करण
2018

मूल्यम् : 125.00 रुपये

मुद्रक
नाग प्रकाशन
11–ए. यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली – 110007

किञ्चिन्निवेदनम्

'हितोपदेश:' इत्याख्यस्य लोकवाञ्छितग्रन्थस्य द्वितीयं संस्करणं प्रकाशयद् राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानकुटुम्बम् अतितरामानन्दमनुभवति। अस्य ग्रन्थस्य प्रथमे संस्करणे प्रकाशितानां प्रतिलिपीनाम् विद्वद्भिः स्वीकरणेनाऽस्माकं ग्रन्थविक्रयभाण्डागारे एतत्पुस्तकविषयिणी रिक्तता समजनि। तथ्यमिदं ग्रन्थस्यास्य विद्वद्वरेण्यताम् अभिव्यनक्ति। अनुसन्धानपरायणानां विद्यार्थिनां सुधीमतल्लिकानाञ्चाग्रहमुररीकृत्यास्माभिर्द्वितीयं संस्करणम् अस्य ग्रन्थस्य प्रस्तूयते।

आशासे यच्छोभनोपदेशसंभृतं ग्रन्थरत्नमिदं यथा पूर्वं तथाऽस्मिन्नपि पर्याये विपश्चितां हृदि स्थानमवाप्स्यति सुरभारतीसमुपासकानां च प्रकामं मार्गदर्शनं विधास्यति। ग्रन्थस्यास्य पुनर्मुद्रणपुण्यपर्वणि प्रत्तसाहाय्येभ्यः शोधप्रकाशनप्रमुखमुखेभ्यः सर्वेभ्यः संस्थानकुटुम्बसदस्येभ्यो मुद्रकाय च भूरिशो धन्यवादान् प्रयच्छामि।

प० ना० शास्त्री

–प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्री

भूमिका

विदित हो कि नीति एक ऐसा शास्त्र है कि जिसको मनुष्यमात्र व्यवहार में लाता है, क्योंकि बिना इसके संसार में सुखपूर्वक निर्वाह नहीं हो सकता, और यदि नीति का अवलम्बन न किया जाय तो मनुष्य को सांसारिक अनेक घटनाओं के अनुकूल कृतकार्य होने में बड़ी कठिनता पड़े, और जो लोग नीति के जानने वाले हैं वे बड़े बड़े दुस्तर और कठिन कार्यों को सहज में शीघ्र कर लेते हैं; परन्तु नीतिहीन मनुष्य छोटे छोटे-से कार्यों में भी मुग्ध हो कर हानि उठाते हैं। नीति दो प्रकारकी है-एक धर्म, दूसरी राजनीति; और इन दोनों नीतियों के लिये भारतवर्ष प्राचीन समय से सुप्रसिद्ध है। सर्वसाधारण को राजनीति से प्रतिदिन काम पड़ता है। अत एव विदेशी विद्वानों ने भारत में आ कर नीतिविद्या सीख ली और अपने देशों में जा कर उसका अनुकरण किया और अपनी अपनी मातृ-भाषा में उसका अनुवाद कर के देश को लाभ पहुंचाया ॥

यद्यपि राजनीति के एक से एक अपूर्व ग्रंथ संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं तथापि पण्डित विष्णुशर्मारचित पञ्चतन्त्र परम प्रसिद्ध है, क्योंकि उस ग्रंथ में नीतिकथा इस उत्तम प्रणाली से लिखी गई है कि जिसके पढ़ने में रुचि और समझने में सुगमता होती है और अन्य देशियों ने भी इसका बड़ा ही समादर किया कि अरबी, फ़ारसी इत्यादि भाषाओं में इसका अनुवाद पाया जाता है। पण्डित नारायणजी ने उक्त पञ्चतन्त्र तथा अन्य अन्य नीति के ग्रन्थों से हितोपदेश नामक एक नवीन ग्रन्थ संगृहीत करके प्रकाशित किया, कि जो

पञ्चतन्त्र की अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुगम है और विद्वानोंने हितोपदेश को "यथा नाम तथा गुणाः" समझ कर अत्यन्त आदर दिया, यहां तक कि वर्तमान काल में भारतवर्षीय शिक्षा विभाग में इसका अधिक प्रचार हो रहा है. हितोपदेश के गुणवर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है कारण उसका गौरव सब पर विदित ही है और उक्त ग्रन्थ पर कई टीकाएँ प्रकाशित होने पर भी निर्णयसागर यंत्रालय के मालिक श्रीयुत **तुकाराम जावजी** महाशय ने मुझ से यह अनुरोध किया कि, हितोपदेश की भाषाटीका इस रीति पर की जाय कि जिससे पाठकों की समझ में विभक्त्यर्थ के साथ आशय भली भांति आ जाय, अत एव मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार उसी रीति पर टीका करके पाठकगण को समर्पण करता हूं और विद्वानों से प्रार्थना करता हूं कि जहां कहीं भ्रम से कुछ रह गया हो उसे सुधार लेनेकी कृपाकरें.

मार्ग. शु. ३ भृगौ संवत् १९५१.

रामेश्वर भट्ट,
प्रथम संस्कृताध्यापक. मु. आ. स्कू. आगरा.

कहानियोंकी अनुक्रमणिका

हितोपदेशके श्लोकोंमें वर्णित विषयोंका विवरण

	पृष्ठ	श्लोक
मंगलाचरण		१
हितोपदेशकी प्रशंसा	,,	२
विद्याकी प्रशंसा	२,३,९	४,३८–४०–७
शास्त्रकी प्रशंसा	३	१०
यौवन, धन, प्रभुता और अज्ञानताकी निन्दा	,,	११
कुपुत्रकी निन्दा	५,६,८६	प्र. १२ से २४ तक सु. ७
संसारके छः सुख	५	२०
धर्मकी प्रशंसा	६	२५,२६
प्रारब्धकी मुख्यता	७,८, १९,२८.२९	प्र. २८, २९, ३३ मि. २१,५०,५१,५२
उद्योगकी प्रशंसा	७,८	३०, ३१, ३२ से ३७ तक
प्रारब्धकी प्रशंसा		३२
सत्संगकी प्रशंसा	९–११	४१ से ४७ तक
धर्मके आठ मार्ग	१६	मि. ८
दानकी सफलता	१६,१७	११,१६
आत्माकी रक्षा	१६	१२
पण्डितका लक्षण	१७,६५	१४,१५०
स्वभावकी उत्कर्षता	१८,८१	मि. १७ वि. ५८
विश्वासकी अकर्तव्यता	१९,४२	१९,८७
स्वभावकी मुख्य परीक्षा	१९	२०
वृद्धोंके वचनका ग्रहण	२०	२३
संसारके छः दुःख	२०	२५

हितोपदेशः

भाषानुवादसमलंकृतः

प्रस्ताविका

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

जिन्होंके ललाटपर चन्द्रमाकी कला गंगाजीके फेनकी रेखाके समान शोभायमान है उन चन्द्रशेखर महादेवजीकी कृपासे साधुजनोंका मनोरथ सिद्ध होय ॥ १ ॥

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

यह हितोपदेश नामक ग्रंथ सुना हुआ (सुननेसे) संस्कृतके बोलने-चालनेमें चतुरताको, सब विषयोंमें वाक्योंकी विचित्रताको और नीतिविद्याको देता है ॥ २ ॥

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य अपनेको कभी बूढ़ा न होऊँगा और कभी न मरूँगा ऐसा जानकर विद्या और धनसंचय का विचार करे, मृत्युने चोटीको आ पकड़ा है ऐसा सोच कर धर्म करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

पण्डित लोग सब कालमें (कभी) चौरादिकोंसे नहीं चुराये जानेसे, अनमोल होनेसे और कभी क्षय न होनेसे, सब पदार्थोंमेंसे उत्तम पदार्थ विद्याकोही कहते हैं ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

जैसे नीच अर्थात् तुच्छ तृणादिसे मिलनेवाली नदी उस तृणादिकको अथाह समुद्रसे जा मिलाती है, उसी प्रकार विद्याभी नीच पुरुषको प्राप्त (वश) होकर राजासे जा मिलाती है, फिर सौभाग्य का उदय कराती है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या मनुष्यको नम्रता देती है और नम्रतासे योग्यता, योग्यतासे धन, धनसे धर्म, फिर धर्मसे सुख पाता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥ ७ ॥

शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या ये दोनों आदर करानेवाली हैं परंतु पहली अर्थात् शस्त्रविद्या बुढापेमें "पुरुषार्थ न होनेसे" हँसी कराती है और दूसरी अर्थात् शास्त्रविद्या सदैव आदर कराती है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

जैसे मृत्तिकाके कोरे बर्तनमें जिस वस्तुका संस्कार पहले होजाता है और पीछे वह उसमेंसे नहीं जाता है; उसी प्रकार मैं इस हितोपदेश ग्रन्थमें कथाके बहानेसे बालकों के लिये नीति कहता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः संधिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथाऽन्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

पंचतन्त्र तथा अन्य अन्य नीतिशास्त्रके ग्रन्थोंसे आशय लेकर, १ मित्रलाभ, २ सुहृद्भेद, ३ विग्रह और ४ सन्धि, ये चार भाग बनाये जाते हैं ॥ ९ ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्व-

---

१ यहां मनुष्य और तृणकी, विद्या और नदीकी, समुद्र और राजाकी समानता है. २ बालकोंका बचपन कोरे बर्तनके समान है. यदि इसमें कहानियोंके बहानेसे विद्याका संस्कार हो जाय तो वे जन्मपर्यंत शास्त्रसे विमुख न होंगे ।

स्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

गंगाजीके किनारेपर पटना नामका एक नगर है, वहाँ राजाके संपूर्ण गुणोंसे शोभायमान, सुदर्शन नामका एक राजा रहता था. एक समय उस राजाने किसीको पढ़ते हुए, ये दो श्लोक सुने—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ १०॥

"अनेक सन्देहोंको दूर करनेवाला और छिपे हुए अर्थको दिखाने वाला शास्त्र, सबका नेत्र है, ज्ञानरूपी जिसके पास वह शास्त्र नेत्र नहीं है वह अन्धा है॥१०॥

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्?" ॥ ११ ॥

यौवन, धन, प्रभुता और अविचारता, इनमेंसे एक एक भी हो तो अनर्थके करने वाली है और जिसमें ये चारों होय वहांका क्या ठीक है?" ॥११॥

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

इन दोनो श्लोकोंको सुनकर, वह राजा, शास्त्रको न पढ़नेवाले, तथा प्रतिदिन कुमार्गमें चलने वाले, अपने लड़कोंके, शास्त्र न पढनेसे मन व्याकुल होकर सोचने लगा—

'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा, चक्षुःपीडैव केवलम्॥ १२॥

जो न पण्डित है और न धर्मशील है, ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ किस कामका? जैसे काणी आंखसे क्या सरता है? केवल आँखकोही पीडा है ॥ १२ ॥

अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥ १३॥

उत्पन्न नहिं हुआ, तथा होकर मर गया और मूर्ख, इन तीनोंमेंसे पहले[२] दो अच्छे हैं और अन्तिम(मूर्ख) अच्छा नहीं, क्योंकि पहले दोनों एकही

---

१ शूरता, धीरता, दया और शील आदि. २ उत्पन्न नहीं हुआ और होकर मर गया.

वार दुःखके करने वाले हैं. अंतिमें क्षण-क्षणमें (हमेशा) दुःख देता है ॥ १३ ॥

किंच,—

वरं गर्भस्रावो वरमपि च नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता।
वरं वंध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

और गर्भका गिर पड़ना, स्त्रीका संसर्ग न करना, उत्पन्न होकर मर जाना, कन्याका होना, स्त्रीका बाँझ रहना, अथवा उसके गर्भमेंही रहना अच्छा है, परन्तु सुन्दरता तथा सुवर्णके आभूषणोंसे युक्त भी मूर्ख पुत्र होना अच्छा नहीं ॥ १४ ॥

किंच,—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते? ॥ १५ ॥

और जिस पुत्रके उत्पन्न होनेसे वंशकी बड़ाई हो, वह जानों उत्पन्न हुआ, नहीं तो इस असार संसारमें मरकर कौन मनुष्य उत्पन्न नहीं होता है? अर्थात् बहुत-से होते हैं और बहुत-से मरते हैं ॥ १५ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम ॥ १६ ॥

गुणियोंकी गिनतीके आरंभमें जिसका नाम गौरवपूर्वक खड़ियासे नहीं लिखा जाय, ऐसे पुत्रसे जो माता पुत्रवती कहलावे तो कहो बाँझ कैसी होती है? अर्थात् जिसका पुत्र निर्गुणी है वही सचमुच बाँझ है ॥ १६ ॥

अपि च,—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

और भी कहा है कि—दानमें, तपमें, शूरतामें, विद्याके पढ़नेमें और धनके लाभमें जिसका मन नहीं लगा वह पुत्र अपनी माताके मलमूत्रके समान वृथा है ॥ १७ ॥

---

१ मूर्ख.

अपरं च,—

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणा अपि ॥ १८ ॥

और दूसरे-गुणी एकही पुत्र अच्छा परंतु मूर्ख सौ अच्छे नहीं, क्योंकि अकेला चन्द्रमा अंधेरेको दूर कर देता है किंतु अनेक तारोंके समूह भी नहीं कर सकते हैं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

जिस मनुष्यने किसी पुण्य तीर्थमें अतिकठिन तप किया है, उसीका पुत्र आज्ञाकारी, धनवान्, धर्मशील और पंडित होता है ॥ १९ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥ २० ॥

हे राजा ! नित्य धनका लाभ, आरोग्य, प्रियतमा और मधुरभाषिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र और धनका लाभ कराने वाली विद्या, ये संसारमें छः सुख हैं ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः ? ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

कुशूल नाम पात्रोंसे भरेजाने वाले, अनाज रखनेके आढक नाम पात्रोंके समान अर्थात् बहुत भोजन करने वाले पुत्रोंसे कौन बडाई पाता है ? परंतु जिसके उत्पन्न होनेसे पिता संसारमें विख्यात हो ऐसा कुलदीपक एकही पुत्र अच्छा है ॥ २१ ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २२ ॥

ऋणकर्ता पिता, व्यभिचारी याने बदचलन माता, अत्यंत सुन्दर स्त्री और मूर्ख पुत्र ये चारों शत्रुके समान हैं ॥ २२ ॥

अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम् ।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ २३ ॥

अभ्यास न करनेसे विद्या, अजीर्ण होने पर भोजन, दरिद्रीको सभा और बूढेको तरुण स्त्री, विषके समान है ॥ २३ ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ? ॥ २४ ॥

किसीसेभी उत्पन्न हुआ हो, किन्तु गुणवान् होनेसे प्रतिष्ठा पाता है; जैसे अच्छे बांसका बना हुआभी धनुष्य गुण अर्थात् डोरीके विना क्या कर सकता है ? ॥ २४ ॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥

इसलिये अब किसी प्रकारसे, इन मेरे पुत्रोंको गुणवान् कीजिये. आहार, निद्रा, भय और मैथुन, ये पशुओं और मनुष्योंमें समान हैं, केवल मनुष्योंमें धर्मही अधिक है और धर्महीन मनुष्य पशुके समान है ॥ २५ ॥

यतः,—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

क्योंकि–जिस मनुष्यमें धर्म[२], अर्थ, काम, मोक्ष इनमेंसे एक भी न हो, उसका जन्म बकरीके गलेके थनके समान वृथा (निकम्मा) है ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते,—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

जैसा कहा जाता है कि–आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु, ये पांच बातें मनुष्यकी गर्भहीमें लागू होती हैं ॥ २७ ॥

---

१ ज्ञान-दरिद्र (मूर्ख) या अनजानको. २ धर्मादि चार पुरुषार्थके उपाय.

किंच,—

अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

और, अवश्य होनहार विषय बड़े (देवों)कोभी होते हैं जैसे महादेवजीको नग्नता और विष्णुका शेषनागपर लोटना ॥ २८ ॥

अपि च,—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥ २९ ॥

और, जो होनहार नहीं है सो कभी न होगा और जो होनहार है उससे विपरीत न होगा, अर्थात् अवश्य होगा—इस चिन्तारूपी विषको नाश करनेवाले औषधको क्यों नहीं पीते ? ॥ २९ ॥

एतत्कार्याक्षमाणां केषांचिदालस्यवचनम्।

न दैवमपि संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥ ३० ॥

यह तो कितनेही, कार्य करनेमें असमर्थोंका आलस्ययुक्त वचन है। भाग्यको विचार कर (केवल दैवके उपरही भरोसा रख कर) ही मनुष्यको अपना उद्योग नहीं छोडना चाहिये, क्योंकि विना उद्योगके तिलोंमेंसे तेल कौन निकाल सकता है ? ॥ ३० ॥

अन्यच्च,—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
'र्दैवेन देय'मिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ? ॥ ३१ ॥

और भी, उद्योगी-जो पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी है ऐसे श्रेष्ठ मनुष्यको लक्ष्मी मिलती है और 'भाग्यमें होगा सो मिलेगा' इस प्रकार पुरुषार्थहीन मनुष्य कहते हैं; इसलिये भाग्यको छोड़, यथाशक्ति यत्न करना चाहिये और यत्न करनेपर भी जो कार्य सिद्ध न हो तो उसमें क्या दोष है ? ॥ ३१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

और जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चलता है वैसेही उद्योगके बिना प्रारब्ध नहीं खुलती है ॥ ३२ ॥

तथा च,—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३३ ॥

और पूर्व जन्ममें कियेहुए कामहीको प्रारब्ध कहते हैं, इसलिये मनुष्यको आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

जैसे कुम्हार मट्टीके लोंदेसे जो चाहता है सो बनाता है, उसी तरह मनुष्य भी अपना किया हुआ कर्म पाता है ॥ ३४ ॥

काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

काकतालीय न्यायके समान अर्थात् अनायास इकट्ठे धनको सामने देखकर भी स्वयं भाग्य ग्रहण नहीं करता है, किंतु कुछ पुरुषार्थकी अपेक्षा होती है ॥ ३५ ॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

उद्योगसे कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथोंसे नहीं, जैसे सोते हुए सिंहके मुखमें मृग अपने आप नहीं घुसते हैं ॥ ३६ ॥

मातृपितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥ ३७ ॥

माता-पितासे अभ्यास कराया गया बालक गुणवान् होता है, गर्भसे निकलतेही पुत्र पण्डित नहीं होता ॥ ३७ ॥

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥

जिन माता-पिताने अपने बालकको नहीं पढ़ाया है, वे उसके वैरी हैं और वह बालक सभामें, हंसोंमें बगुलेकी तरह शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

सौन्दर्य तथा यौवनसे युक्त और बडे कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य विद्याहीन होनेसे सुगन्धरहित टेसूके पुष्पोंके समान शोभा नहीं पाते हैं ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते' ॥ ४० ॥

सुन्दर कपडे पहिना हुआ मूर्ख भी सभामें तभीतक अच्छा लगता है कि जबतक वह कुछ न बोले' ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् । राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः ! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ?

यह सोच विचार कर उस राजाने पण्डितोंकी सभा कराई; (और) राजा बोला-'हे पण्डितमहाशयो ! सुनिये. (इस सभामें) कोई ऐसाभी पण्डित है जो मेरे नित्य कुमार्गी तथा शास्त्रको नहीं पढे हुए बेटोंका अब नीतिशास्त्रके उपदेशसे नया जन्म करानेको समर्थ हो ?

यतः,—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि—सुवर्णके संग होनेसे जैसे कांचकी मरकतमणिकी-सी शोभा हो जाती है, वैसेही अच्छे संगसे मूर्खभी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

उक्तं च,—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्' ॥ ४२ ॥

और कहा है कि-नीचोंके साथ रहनेसे बुद्धि घट जाती है, समान पुरुषोंके साथ रहनेसे समान रहती है और अधिक बुद्धिमानोंके साथ रहनेसे बढ जाती है' ४२

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्र-

तत्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्—'देव! महाकुलसंभूता एते राजपुत्राः। तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते।

उस समय सम्पूर्ण नीतिशास्त्रके सारको जाननेवाले, बृहस्पतिजीके समान एक बड़े धुरंधर पण्डित विष्णुशर्माजी बोले-'महाराज! ये बड़े सत्कुलमें उत्पन्न हुए राजपुत्र हैं. इसलिये मैं इनको नीति सिखा सकता हूं. क्योंकि,—

यतः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः॥ ४३॥

क्योंकि, अयोग्य वस्तुमें किया हुआ परिश्रम सफल नहीं होता है, जैसे अनेक उपाय करने परभी तोतेके समान बगुला नहीं पढ़ाया जा सकता है॥ ४३॥

अन्यच्च,—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः?॥ ४४॥

और दूसरे-इस राजकुलमें गुणहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होसकती है, जैसे पद्मरागमणियोंकी खानमें काचमणिका जन्म कैसा होसकता है?॥ ४४॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि'। राजा सविनयं पुनरुवाच—

इसलिये मैं छः महीनोंके भीतर आपके पुत्रोंको नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा'. राजा फिर विनयसे बोला,—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः॥ ४५॥

'कीड़ाभी पुष्पोंके संगसे सज्जनके शिरपर पहुंच जाता है और बड़े मनुष्योंसे स्थापन किया हुआ पाषाणभी देवता मान कर पूजा जाता है॥ ४५॥

अन्यच्च,—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥ ४६॥

और दूसरे-जैसे उदयाचलकी वस्तु सूर्यकी किरणोंके गिरनेसे चमकती है उसी तरह सज्जनोंके पास रहनेसे मूर्ख भी शोभायमान लगता है॥ ४६॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

गुण, बुद्धिमानोंमें मिल जानेसे गुण हो जाते हैं और मूर्खोंमें मिल जानेसे वेही गुण दोष बन जाते हैं. जैसे मीठे जलवाली नदियां समुद्रसे मिलकर खारी बन जाती हैं ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान्समर्पितवान् ॥

इसलिये इन मेरे पुत्रोंको नीतिशास्त्रके उपदेश करनेके लिये आप सब प्रकारसे समर्थ हैं'—यह कहकर बडे आदरसत्कारसे विष्णुशर्माजीको पुत्र सौंप दिये.

इति प्रस्ताविका ।

ॐ

तत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्—'देव! महाकुलसंभूता एते राजपुत्राः। तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते।

उस समय सम्पूर्ण नीतिशास्त्रके सारको जाननेवाले, बृहस्पतिजीके समान एक बड़े धुरंधर पण्डित विष्णुशर्माजी बोले—'महाराज! ये बड़े सत्कुलमें उत्पन्न हुए राजपुत्र हैं. इसलिये मैं इनको नीति सिखा सकता हूं. क्योंकि,—

यतः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः॥ ४३॥

क्योंकि, अयोग्य वस्तुमें किया हुआ परिश्रम सफल नहीं होता है, जैसे अनेक उपाय करने परभी तोतेके समान बगुला नहीं पढ़ाया जा सकता है॥ ४३॥

अन्यच्च,—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः?॥ ४४॥

और दूसरे—इस राजकुलमें गुणहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होसकती है, जैसे पद्मरागमणियोंकी खानमें काचमणिका जन्म कैसा होसकता है?॥ ४४॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि'। राजा सविनयं पुनरुवाच—

इसलिये मैं छः महीनोंके भीतर आपके पुत्रोंको नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा'. राजा फिर विनयसे बोला,—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः॥ ४५॥

'कीड़ाभी पुष्पोंके संगसे सज्जनके शिरपर पहुंच जाता है और बड़े मनुष्योंसे स्थापन किया हुआ पाषाणभी देवता मान कर पूजा जाता है॥ ४५॥

अन्यच्च,—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥ ४६॥

और दूसरे—जैसे उदयाचलकी वस्तु सूर्यकी किरणोंके गिरनेसे चमकती है उसी तरह सज्जनोंके पास रहनेसे मूर्ख भी शोभायमान लगता है॥ ४६॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

गुण, बुद्धिमानोंमें मिल जानेसे गुण हो जाते हैं और मूर्खोंमें मिल जानेसे वेही गुण दोष बन जाते हैं. जैसे मीठे जलवाली नदियां समुद्रसे मिलकर खारी बन जाती हैं ॥ ४७ ॥

तदेतेषामसत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ।' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान्समर्पितवान् ॥

इसलिये इन मेरे पुत्रोंको नीतिशास्त्रके उपदेश करनेके लिये आप सब प्रकारसे समर्थ हैं'—यह कहकर बडे आदरसत्कारसे विष्णुशर्माजीको पुत्र सोंप दिये.

इति प्रस्ताविका ।

हितोपदेशः

मित्रलाभः

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्ताव-क्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

फिर राजभवनके ऊपर आनन्दसे बैठे हुए, राजकुमारोंके सामने प्रसंगकी रीतिसे पंडितजी यों बोले—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा' ॥ १ ॥

'काव्यशास्त्रके विनोदसे बुद्धिमानोंका और द्यूत आदि दुर्व्यसन, नींद अथवा कलहसे मूर्खोंका समय कटता है ॥ १ ॥

'तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि ।' राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! कथ्यताम् ।' विष्णुशर्मोवाच—'शृणुत; संप्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

इसलिये आपकी प्रसन्नताके लिये काग, कछुआ आदिकी विचित्र कथा कहताहूं' । राजपुत्र बोले—'हे गुरुजी ! कहिये' । विष्णुशर्मा बोले—'सुनिये मैं अब मित्रलाभ कहता हूं कि जिसका प्रथम वाक्य यह है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत्' ॥ २ ॥

अस्त्र शस्त्र आदि उपायरहित, तथा धनहीन किन्तु बुद्धिमान् और आपसमें बड़े परम मित्र (साथी) काक, कूर्म, मृग और चूहेके समान शीघ्र कार्योंको सिद्ध कर लेते हैं' ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति,—
राजपुत्र बोले—'यह कहानी कैसी है ?' । विष्णुशर्मा कहने लगे—

कथा १

[काग, कछुआ, मृग और चूहेकी कहानी १]

'अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्दे-

शादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्—'अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति ।' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

'गोदावरीके तीरपर एक बड़ा सैमरका पेड़ है । वहां अनेक दिशाओंके देशोंसे आकर रातमें पक्षी बसेरा करते हैं । एक दिन जब थोड़ी रात रह गई और भगवान् कुमुदिनीके नायक चन्द्रमाने अस्ताचलकी चोटीकी शरण ली तब लघुपतनक नामक काग जगा और सामनेसे दूसरे यमराजके समान एक बहेलिएको आते हुए देखा; उसको देखकर सोचने लगा–कि 'आज प्रातःकालही बुरेका मुख देखा है । मैं नहीं जानता हूं कि क्या बुराई दिखावेगा ।' यह कहकर उसके पीछे पीछे घबराकर चल पड़ा ।

यतः,—

> शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
> दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ३ ॥

क्योंकि—सहस्रों शोककी और सैंकड़ों भयकी बातें मूर्ख पुरुषको दिन पर दिन दुःख देती हैं और पण्डितको नहीं ॥ ३ ॥

अन्यच्च, विषयिणामिदमवश्यं कर्तव्यम्,—

और दूसरे-संसारके धंधोंमें लगे हुए मनुष्योंको यह अवश्य करना चाहिये कि—

> उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
> मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥ ४ ॥

नित्य उठतेही बड़ा भय आया (आनेका संभव है) ऐसा समझ लेना चाहिये, क्योंकि मरण आपत्ति और शोक, इनमेंसे न जाने कौनसा भी आ पड़े ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकया-

मास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान्प्रत्याह— 'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां संभवः? तन्निरूप्यतां तावत्। भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम्,—

फिर इस व्याधने चावलोंकी कनकीको बखेर कर जाल फैलाया और आप वहां छुप कर बैठ गया। उसी कालमें परिवारसहित आकाशमें उड़ते हुए चित्रग्रीव नामक कबूतरोंके राजाने चावलोंकी कनकीको देखा. फिर कपोतराज चावलके लोभी कबूतरोंसे बोला—'इस निर्जन वनमें चावलकी कनकी कहांसे आई ? पहले इसका निश्चय करो. मैं इसको कल्याणकारी नहीं देखता हूं, अवश्य इन चावलोंकी कनकीके लोभसे हमारीभी वैसी ही गति हो सकती जैसी कि—

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण संप्राप्तः पथिकः स मृतो यथा' ॥ ५ ॥

कंगनके लोभसे गाढ़ी गाढ़ी कीचडमें फँसे हुए एक बटोहीको, बूढे बाघने पकड़ कर मार डाला' ॥ ५ ॥

कपोता ऊचुः—'कथमेतत् ?'। सोऽब्रवीत्—

कबूतर बोले—'यह कथा कैसे है ?'—वह कहने लगा.

कथा २

[सुवर्णकंकणधारी बूढ़ा बाघ और मुसाफिरकी कहानी २]

'अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्। एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्।' ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्—भाग्येनैतत्संभवति। किंत्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

'एक समय मैंने दक्षिणके वनमें चलते हुए देखा कि एक बूढा बाघ नहा धोकर कुशा हाथमें लिये सरोवरके किनारे पर (बैठा हुआ) बोला—'ओ बटोहियो! यह सुवर्णका कंगन लो'. तब लोभके मारे किसी बटोहीने जीमें विचारा कि—'यह बात भाग्यसे होती है, परंतु इस आत्माके संदेहमें (अर्थात कहीं मर तो न जाऊं? इस सोचमें) प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

क्योंकि—दुर्जनसे मनोरथ पूरा भी हो जाय परन्तु परिणाम अच्छा नहीं होता है; जैसे अमृतमें विषके मिलनेसे वह अमृत भी मार डालता है ॥ ६ ॥

किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः संदेह एव।

परन्तु सर्वदा धनके उत्पन्न करनेमें तो संदेह होताही है।

तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

जैसा कहा है—मनुष्य सन्देहोंमें पडे विना कल्याण नहीं देखता है; परन्तु सन्देहोंमें पड़कर जो जीता रहता है वही देखता है ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत्।' प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम्?' व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?'। व्याघ्र उवाच—'शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम्। अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च। वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमादिष्टः— "दानधर्मादिकं चरतु भवान्।" तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो कथं न विश्वासभूमिः?

इसलिये प्रथम इस बातका निश्चय करूं'. प्रकट बोला-'अरे! तेरा कंगन कहां है?' बाघने हाथ पसार कर दिखा दिया. बटोहीने कहा-'मैं तुझ हिंसकमें कैसे विश्वास करूं?' बाघ बोला-'सुनरे बटोही! पहले मैं युवावस्थामें बड़ा दुराचारी था, अनेक गौओं और मनुष्योंके मारनेसे मेरे स्त्री-पुत्र मर गये. और मैं वंशहीन होगया. तब किसी धर्मात्माने मुझे उपदेश किया कि-"आप दान, धर्म आदि करिये". उसके उपदेशसे अब मैं स्नान करता हूं, दानी तथा वृद्ध हूं, नख और दांत भी मेरे गल गये हैं, मैं विश्वासके योग्य क्यों नहीं हूं!

यतः,—

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

क्योंकि—यज्ञ करना, वेद पढ़ना, दान देना, तप करना, सत्य बोलना, धीरज धरना, क्षमाशील होना और लोभ न करना, ये आठ धर्मके मार्ग हैं ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

इनमेंसे पहले चार तो पाखंड रचनेके (बाहरी दिखावेके) लिये भी होते हैं परन्तु पिछले चार केवल महात्मामेंही होते हैं ॥ ९ ॥

मम चैतावांल्लोभविरहो येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद्दातुमिच्छामि। तथापि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकप्रवादो दुर्निवारः।

मुझे यहांतक लोभ नहीं है कि अपने हाथका कंगनभी किसीको देना चाहता हूं, परन्तु 'बाघ मनुष्यको खा जाता है' यह लोकनिन्दा नहीं मिट सकती है।

यतः,—

गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम्।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

क्योंकि—अपनी पुरानी लीखपर चलने वाला संसार धर्मके विषयमें कुट्टनीके उपदेशका ऐसा प्रमाण नहीं करता है कि जैसा गो-हिंसक ब्राह्मणका धर्ममें प्रमाण (विश्वास) करता है ॥ १० ॥

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि। शृणु,—

और मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं, सुन ऐसा कहा है कि—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं तथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे मारवाड़देशमें वृष्टिका होना और भूखेको भोजन देना लाभदायक है, उसी प्रकार दरिद्रको दान देना लाभदायक होता है ॥ ११ ॥

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार अपने प्राण प्यारे हैं, वैसेही अन्य प्राणियोंकोभी अपने अपने

प्राण प्यारे हैं, इसलिये साधुजन अपने प्राणोंके समान दूसरोंपर भी दया करते हैं ॥ १२ ॥

अपरं च,—

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

और दूसरी यह बात है–प्रार्थनाका स्वीकार, दान, सुख तथा दुःख, शुभ और अशुभमें, पुरुष अपनी आत्माके समान प्रमाण करता है ॥ १३ ॥

अन्यच्च,—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

और दूसरे—जो पराई स्त्रीको माताके समान, पराये धनको कंकड़के समान, और सब प्राणियोंको अपनी आत्माके समान समझता है, वही सच्चा पण्डित है ॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम्। तथा चोक्तम्—

तू अत्यंत निर्धन है इसलिये मैं तुझे देनेको यत्नशील हूं; जैसा कहा है—

दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ? ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! दरिद्रियोंका पालन और पोषण कर तथा धनवानको धन मत दे, क्यों कि, रोगीको औषध गुणदायक होती है और नीरोगको औषधियाँ वृथा हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च,—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

और–'यह देना है' इस निःस्पृह बुद्धिसे जो दान अनुपकारीको[१] देश काल और सुपात्र विचार कर दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहलाता है ॥ १६ ॥

---

१ जिसके साथ प्रत्युपकार या कोई अन्य तरह स्वार्थका संबंध न हो ऐसे पुरुषको.

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण।' ततो यावदसौ तद्वचः-प्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः। पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह, महापङ्के पतितोऽसि। अतस्त्वामहमुत्थापयामि।' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः; स पान्थोऽचिन्तयत्—

इसलिये इस सरोवरमें नहाकर सोनेका कंगन ले। तब वह उसकी मीठी २ बातें सुन लोभवश होकर जैसेही सरोवरमें स्नान करनेके लिये उतरा वैसेही घनी कीचड़में फँस गया और भाग न सका। उसको कीचड़में फँसा देखकर व्याघ्रने कहा—'ओहो! तू बड़ी भारी कीचड़में फँस गया है, इसलिये मैं तुझे बाहर निकालता हूं. यह कह कर और धीरे धीरे पास जाकर उस बाघने उसे पकड़ लिया, तब वह बटोही सोचने लगा—

'न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥ १७॥

'जो दुष्ट है उसे धर्मशास्त्र और वेद पढ़नेसे क्या होता है? क्योंकि, स्वभावही सबसे प्रबल होता है, जैसे गौका दूध स्वभावसेही मीठा होता है'॥ १७॥

किंच,—

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना॥ १८॥

और जिनकी इन्द्रियां और चित्त वशमें नहीं है उनका व्यापार हाथीके स्नानके समान निष्फल है, और इसी प्रकार क्रियाके विना ज्ञान, वंध्या स्त्रियोंके पालन-पोषणके समान भार अर्थात् निष्फल है॥ १८॥

---

१ वस्तुतः 'गजवत् स्नानमाचरेत्' यह उक्ति केवल स्नानकी रीत बता देती है, क्योंकि, हाथी नहानेके बाद तुरंतही सूंड़से अपने शरीरके ऊपर धूल फेंकता है, जिस वजहसे उसका स्नान निष्फलही है. २ विधवा स्त्रियोंके गहने पहरनेके समान निष्फल है ऐसा अर्थ भी हो सकता है, अर्थात् जैसा कि संतति उत्पत्तिकी आशा न होनेसे वंध्याका पालन-पोषण भार है वैसेही विना पतिके विधवाको अलंकार भार है.

तन्मया भद्रं न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः। तथा ह्युक्तम्—

इसलिये मैंने अच्छा नहीं किया जो इस हिंसकमें विश्वास किया, जैसा कहा है—

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

नदियोंका, हाथमें शस्त्रधारण करने वालोंका, नख और सींग वाले प्राणियोंका, स्त्रियोंका तथा राजाके कुलका विश्वास कभी न करना चाहिए ॥ १९ ॥

अपरं च,—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

और दूसरे—मनुष्यको सबके स्वभावकी परीक्षा करनी चाहिए न कि अन्य गुणोंकी; क्योंकि सब गुणोंको छोड़कर स्वभावही सबसे श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

अन्यच्च,—

स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगाद्ग्रस्यते राहुणासौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ?' ॥ २१ ॥

और चन्द्रमा जो आकाशमें विचरता है, अंधकारको दूर करता है, सहस्र किरणोंको धारण करता है, और नक्षत्रोंमें बीचमें चलता है उस चन्द्रमाको भी भाग्यसे राहु ग्रस लेता है, इसलिये जो कुछ भाग्य (ललाट) में विधाताने लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है ?' ॥ २१ ॥

इति चिन्तयन्नेवासौ व्याघ्रेण व्यापादितः खादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"कङ्कणस्य तु लोभेन" इत्यादि। अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यम्।

यह बात वह सोचही रहा था जब उसको बाघने मार डाला और खा गया। इसीसे मैं कहता हूं कि, "कंगनके लोभसे" इत्यादि. इसलिये बिना विचारे काम कभी नहीं करना चाहिये—

यतः,—

'सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्' ॥ २२ ॥

क्योंकि–'अच्छी रीतिसे पका हुआ भोजन, विद्यावान् पुत्र, सुशिक्षित अर्थात् आज्ञाकारिणी स्त्री, अच्छे प्रकारसे सेवा किया हुआ राजा, सोच कर कहा हुआ वचन, और विचार कर किया हुआ काम ये बहुत काल तकभी नहीं बिगड़ते हैं' ॥२२॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—'आः, किमेवमुच्यते ?

यह सुनकर एक कबूतर घमंडसे बोला, 'अजी ! तुम क्या कहते हो ?

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

जब आपत्काल आवे तब वृद्धोंकी बात माननी चाहिये; परन्तु उस तरह सब जगह माननेसे तो भोजन भी न मिले ॥ २३ ॥

यतः,—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥

क्योंकि–इस पृथ्वीतल पर अन्न और पान (इत्यादि सब) सन्देहोंसे भरा है, किस वस्तुमें खाने–पीनेकी इच्छा करे अथवा कैसे जिए ? ॥ २४ ॥

ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः' ॥ २५ ॥

ईर्षा करने वाला, घृणा करने वाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा संदेह करने वाला और पराये आसरे जीने वाला ये छः प्रकारके मनुष्य हमेशा दुःखी होते हैं' ॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यह सुन कर–सब कबूतर (बहेलियेने चावलके कण जहां छीटे थे) वहां बैठ गये ।

यतः,—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

क्योंकि–अच्छे बडे बडे शास्त्रोंको पढ़ने तथा सुनने वाले और संदेहोंको दूर करने वाले (पंडित) भी लोभके वश हो कर दुःख भोगते हैं ॥ २६ ॥

अन्यच्च,—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

और दूसरे–लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है, लोभसे विषयभोगकी इच्छा होती है और लोभसे मोह और नाश होता है, इसलिये लोभही पापकी जड है ॥ २७ ॥

अन्यच्च,—

असंभवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २८ ॥

और देखो, सोनेके मृगका होना असंभव है, तो भी रामचन्द्रजी सोनेके मृगके पीछे लुभा गये, इसलिये विपत्तिकाल आने पर महापुरुषोंकी बुद्धियाँ भी बहुधा मलिन हो जाती हैं ! ॥ २८ ॥

अनन्तरं सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः । ततो यस्य वचनात्तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति ।

इसके पीछे सबकेसब जालमें बँध गये । फिर जिसके वचनसे वहां उतरे थे उसका सब तिरस्कार करने लगे;

यतः,—

न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते' ॥ २९ ॥

जैसे कि कहा है–समूहके आगे मुखिया होकर न जाना चाहिये, क्योंकि काम सिद्ध होनेसे फल सबको बराबर (प्राप्त) होता है, और जो काम बिगड जाय तो मुखियाही मारा जाता है' ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—'नायमस्य दोषः ।

उसकी निन्दा सुन कर चित्रग्रीव बोला–'इसका कुछ दोष नहीं है;

यतः,—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।
मातृजंघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३० ॥

क्योंकि-हितकारक पदार्थ भी आने वाली आपत्तियोंका कारण हो जाता है, जैसे गोदोहनके समय माताकी जांघ बछडेके बांधनेका खूँटा हो जाती है ॥ ३० ॥

अन्यच्च,—

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३१ ॥

और दूसरे-बन्धु वह है जो आपत्तिमें पडे हुये मनुष्योंको निकालनेमें समर्थ हो, और जो दुःखितोंकी रक्षा करनेके उपायके बदले उलहना देनेमें चतुराई बतावे वह बन्धु नहीं है ॥ ३१ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् । तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् ।

आपत्तिकालमें घबरा जाना तो कायर पुरुषका चिन्ह है, इसलिये, इस काममें धीरज धर कर उपाय सोचना चाहिये;

यतः,—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

क्योंकि-आपदामें धीरज, बढ़तीमें क्षमा, सभामें वाणीकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि, और शास्त्रमें अनुराग ये बातें महात्माओंमें स्वभावसेही होती हैं ॥ ३२ ॥

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

जिसे सम्पत्तिमें हर्ष, और आपत्तिमें खेद न हो, और संग्राममें धीरता हो, ऐसा तीनों लोकके तिलक का जन्म विरला होता है और उसको विरली माता ही जनती हैं ॥ ३३ ॥

---

१ अर्थात् तुमने इस उपायसे इस आपत्तिको क्यों नहीं दूर कर दिया ?.

अन्यच्च,—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

और इस संसारमें अपना कल्याण चाहने वाले पुरुषको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता ये छः अवगुण छोड़ देने चाहिये ॥ ३४ ॥

इदानीमप्येवं क्रियताम् । सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम् ।

अब भी ऐसा करो, सब एक मत होकर जालको लेकर उड़ो;

यतः,—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

क्योंकि-छोटी छोटी वस्तुओंके समूहसे भी कार्य सिद्ध हो जाता है, जैसे घासकी बटी हुई रस्सियोंसे मत वाले हाथी बाँधे जाते हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

अपने कुलके थोड़े मनुष्योंका समूह भी कल्याणका करने वाला होता है, क्योंकि तुस (छिलके) से अलग हुए चावल फिर नहीं उगते हैं ॥ ३६ ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः । अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धावन्नचिन्तयत्-

यह विचार कर सब कबूतर जालको लेकर उड़े । फिर वह बहेलिया, जालको लेकर उड़ने वाले कबूतरोंको दूरसे देख कर पीछे दौड़ता हुआ सोचने लगा.

'संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहंगमाः ।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा' ॥ ३७ ॥

'ये पक्षी मिल कर मेरे जालको लेकर उड़े जाते हैं, परन्तु जब ये गिरेंगे तब मेरे वशमें हो जायँगे' ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयातिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः ।

फिर जब वे पक्षी आंखसे नहीं दीखने लगे तब व्याध लौट गया.

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'किमिदानीं कर्तुमुचितम् ?'। चित्रग्रीव उवाच—

पीछे उस लोभीको लौटता देख कर कबूतर बोले कि–'अब क्या करना चाहिये ?'. चित्रग्रीव बोला—

'माता मित्रं पिता चेति स्वभावात्त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३८ ॥

'माता, पिता और मित्र ये तीनों स्वभावसे हितकारी होते हैं, और दूसरे (लोग) कार्य और किसी कारणसे हितकी इच्छा करने वाले होते हैं ॥ ३८ ॥

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति।' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः। हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति। ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे ?'। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससंभ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—'आः, पुण्यवानस्मि। प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः।

इसलिये मेरा मित्र हिरण्यक नाम चूहोंका राजा गंडकी नदीके तीर पर चित्रवनमें रहता है, वह हमारे फंदोंको काटेगा। यह विचार कर सब हिरण्यकके बिलके पास गये। हिरण्यक सदा आपत्ति आनेकी आशंकासे अपना बिल सौ द्वारका बना कर रहता था। फिर हिरण्यक कबूतरोंके उतरनेकी आहटसे डर कर चुपकेसे बैठ गया। चित्रग्रीव बोला–'हे मित्र हिरण्यक ! हमसे क्यों नहीं बोलते हो ?'. फिर हिरण्यक उसका बोल पहिचान कर शीघ्रतासे बाहर निकल कर बोला–'अहा ! मैं बड़ा पुण्यवान् हूं कि मेरा प्यारा मित्र चित्रग्रीव आया।

यस्य मित्रेण संभाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान्' ॥ ३९ ॥

जिसकी मित्रके साथ बोल-चाल है, जिसका मित्रके साथ रहना-सहना हो, और जिसकी मित्रके साथ गुप्त बात-चीत हो, उसके समान कोई इस संसारमें पुण्यवान् नहीं है' ॥ ३९ ॥

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच-'सखे! किमेतत्?' । चित्रग्रीवोऽवदत्-'सखे! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्।

इन्हें जालमें फँसा देख कर आश्चर्यसे क्षणभर ठहर कर बोला-'मित्र! यह क्या है?'. चित्रग्रीव बोला-'मित्र! यह हमारे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है.

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

जिस कारणसे, जिसके करनेसे, जिस प्रकारसे, जिस समयमें, जिस काल तक और जिस स्थानमें जो कुछ भला और बुरा अपना कर्म है उसी कारणसे, उसीके द्वारा, उसी प्रकारसे, उसी समयमें, वही कर्म, उसी काल तक, उसी स्थानमें, प्रारब्धके वशसे पाता है ॥ ४० ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्' ॥ ४१ ॥

रोग, शोक, पछतावा, बन्धन और आपत्ति, ये देहधारि(प्राणि)योंके लिये अपने अपराधरूपी वृक्षके फल हैं' ॥ ४१ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच—'मित्र! मा मैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि।' हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः। तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः? तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि'। चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवम्। तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्।

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीवके बंधन काटनेके लिये शीघ्र पास आया. चित्रग्रीव बोला-'मित्र! ऐसा मत करो, पहले मेरे इन आश्रितोंके बन्धन काटो,

मेरा बन्धन पीछे काटना' । हिरण्यकने भी कहा–'मित्र ! मैं निर्बल हूं, और मेरे दांतभी कोमल हैं, इसलिये इन सबका बंधन काटनेके लिये कैसे समर्थ हूं ? इसलिये जब तक मेरे दांत नहीं टूटेंगे तब तक तुमारा फंदा काटता हूं । पीछे इनकेभी बंधन जहां तक कट सकेंगे तब तक काटूंगा' । चित्रग्रीव बोला–'यह ठीक है, तो भी यथाशक्ति पहले इनके काटो' । हिरण्यकने कहा–'अपनेको छोड़कर अपने आश्रितोंकी रक्षा करना यह नीति जानने वालों(पंडितों)को संमत नहीं है;

यतः,—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

क्योंकि—मनुष्यको आपत्तिके लिये धनकी, धन देकर स्त्रीकी, और धन तथा स्त्री देकर अपनी रक्षा सर्वदा करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

अन्यच्च,—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं, रक्षता किं न रक्षितम् ?' ॥ ४३ ॥

और दूसरे–धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन चारोंकी रक्षाके लिये प्राण कारण हैं, इसलिये जिसने इन प्राणोंका घात किया उसने क्या घात नहीं किया ? अर्थात् सब कुछ घात किया, और जिसने प्राणोंका रक्षण किया उसने क्या रक्षण न किया ? अर्थात् सबका रक्षण किया ॥ ४३ ॥

चित्रग्रीव उवाच–'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव । किं त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः । तेनेदं ब्रवीमि ।

चित्रग्रीव बोला–'मित्र ! नीति तो ऐसीही है परन्तु मैं अपने आश्रितोंका दुःख सहनेको सब प्रकारसे असमर्थ हूं इस कारण यह कहता हूं.

यतः,—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

क्योंकि—पण्डितको पराये उपकारके लिये अपना धन और प्राणोंकोभी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि विनाश तो अवश्य होगा, इसलिये अच्छे पुरुषोंके लिये प्राण त्यागना अच्छा है ॥ ४४ ॥

अयमपरश्चासाधारणो हेतुः—

जातिद्रव्यगुणानां च साम्यमेषां मया सह।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति॥ ४५॥

और दूसरा यहभी एक विशेष कारण है—इन कबूतरोंका और मेरा जाति, द्रव्य और बल समान है, तो मेरी प्रभुताका फल कहो, जो अब न होगा तो किस कालमें और क्या होगा? ॥ ४५ ॥

अन्यच्च,—

विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम्।
तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयैतान्ममाश्रितान्॥ ४६॥

और दूसरे—आजीविकाके विना भी ये मेरा साथ नहीं छोडते हैं, इसलिये प्राणोंके बदलेभी इन मेरे आश्रितोंको जीवदान दो ॥ ४६ ॥

किं च,—

मांसमूत्रपुरीषास्थिनिर्मितेऽस्मिन्कलेवरे।
विनश्वरे विहायास्थां यशः पालय मित्र! मे॥ ४७॥

और—हे मित्र! मांस, मल, मूत्र, तथा हड्डीसे बने हुए इस विनाशी शरीरमें आस्थाको छोड कर मेरे यशको बढ़ाओ ॥ ४७ ॥

अपरं च पश्य,—

यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम्?॥ ४८॥

और भी देखो—जो, अनित्य और मल-मूत्रसे भरे हुए शरीरसे निर्मल और नित्य यश मिले तो क्या नहीं मिला? अर्थात् सब कुछ मिला ॥ ४८ ॥

यतः,—

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' ॥ ४९ ॥

क्योंकि—शरीर तथा दयादि गुणोंमें बड़ा अन्तर है. शरीर तो क्षणभंगुर है, और गुण कल्पके अन्त तक रहने वाले हैं' ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु । अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते' । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं संपूज्याह—'सखे चित्रग्रीव ! सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या ।

यह सुनकर हिरण्यक प्रसन्नचित्त तथा पुलकायमान होकर बोला—'धन्य है, मित्र ! धन्य है । इन आश्रितों पर दया विचारनेसे तो तुम तीनों लोककीही प्रभुताके योग्य हो' । ऐसा कह कर उसने सबका बंधन काट डाला । पीछे हिरण्यक सबका आदर-सत्कार कर बोला-'मित्र चित्रग्रीव ! इस जालबंधनके विषयमें दोष की शंका कर अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ।

यतः,—

योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिषं खगः ।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

क्योंकि—जो पक्षी सैंकडों योजनसे भी अधिक दूरसे (छोटेसे) अन्नके दानेको या मांसको देखता है वही बुरा समय आनेपर जालकी (बडी) गांठको नहीं देखता है ॥ ५० ॥

अपरं च,—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ ५१ ॥

और दूसरे-चंद्रमा तथा सूर्यको ग्रहणकी पीडा, हाथी और सर्पका बंधन, और पण्डितोंकी दरिद्रता, देख कर मेरी तो समझमें यह आता है कि प्रारब्ध ही बलवान् है ॥ ५१ ॥

---

१ योजन=चार कोश याने ८ मील.

अन्यच्च,—

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ।
दुर्नीतं किमिहास्ति, किं सुचरितं, कः स्थानलाभे गुणः ?
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि' ॥ ५२ ॥

और आकाशके एकान्त स्थानमें विहार करने वाले पक्षीभी विपत्तिमें पड़ जाते हैं, और चतुर धीवर मछलियोंको अथाह समुद्रसेभी पकड़ लेते हैं । इस संसारमें दुर्नीति क्या है, और सुनीति क्या है, और विपत्तिरहित स्थानके लाभमें क्या गुण है ? अर्थात् कुछ नहीं है । क्योंकि, काल आपत्तिरूप अपने हाथ फैला कर बैठा है, और समय आने पर दूरहीसे ग्रहण कर (झपट) लेता है ॥ ५२ ॥

इति प्रबोध्यातिथ्यं कृत्वालिङ्ग्य च चित्रग्रीवस्तेन संप्रेषितो यथेष्टदेशान्सपरिवारो ययौ । हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

यों समझा कर और अतिथि सत्कार कर तथा मिल भेटकर उसने चित्रग्रीवको बिदा किया और वह अपने परिवारसमेत अपने देशको गया । हिरण्यकभी अपने बिलमें घुस गया ।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।
पश्य मूषकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥ ५३ ॥

कोई हो, मनुष्यको सैंकड़ों मित्र बनाने चाहिये । देखो, मूषक मित्रने कबूतरोंका बंधन काट डाला ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह—'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि । अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि, अतो मां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि' । एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम् ?' । स ब्रूते—'लघुपतनकनामा वायसोऽहम्' । हिरण्यको विहस्याह—'का त्वया सह मैत्री ?

इसके बाद लघुपतनक नाम कौवा (चित्रग्रीवके बंधन आदि) सब वृत्तान्तको जानने वाला आश्चर्यसे यह बोला—'हे हिरण्यक ! तुम प्रशंसाके योग्य हो, इसलिये मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूं । इसलिये कृपा करके मुझसेभी मित्रता करलो' । यह सुन कर हिरण्यकभी बिलके भीतरसे बोला—'तू कौन है ?

वह बोला-'मैं लघुपतनक नाम कौवा हूं'। हिरण्यक हँस कर कहने लगा-'तेरे संग कैसी मित्रता ?

यतः,—

यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ? ॥ ५४ ॥

क्योंकि-पण्डितको चाहिये कि जो वस्तु संसारमें जिस वस्तुके योग्य हो उसका उससे मेल आपसमें कर दे. मैं तो अन्न हूं और तुम खाने वाले हो, इस लिये अपनी (भक्ष्य और भक्षककी) प्रीति कैसी होगी ? ॥ ५४ ॥

अपरं च,—

भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः' ॥ ५५ ॥

और दूसरे-भक्ष्य और भक्षककी प्रीति आपत्तिकी जड है। गीदडसे जालमें बँधाया गया मृग कौएसे रक्षा किया गया था ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?'। हिरण्यकः कथयति—

कौवा बोला —'यह कथा कैसे है ?'. हिरण्यक कहने लगा—

कथा २

[मृग, काग और धूर्त गीदडकी कहानी २]

"अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामारण्यानी। तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः, कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि ।' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—'मित्र ! कुशलं ते ?'। मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम् ?'। स ब्रूते-'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्'। मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु'। ततः पश्चादस्तंगते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग ! कोऽयं

द्वितीयः ?'। मृगो ब्रूते—'जम्बूकोऽयम्। अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता।

मगधदेशमें चम्पकवती नामका एक महान् अरण्य था, उसमें बहुत दिनोंसे मृग और कौवा बड़े स्नेहसे रहते थे। किसी गीदड़ने उस मृगको हट्टाकट्टा और अपनी इच्छासे इधर उधर घूमता हुवा देखा, इसको देख कर गीदड़ सोचने लगा–अरे, कैसे इस सुन्दर (मीठा) मांसको खाऊं? जो हो, पहले इसे विश्वास उत्पन्न कराऊं। यह विचार कर उसके पास जाकर बोला–'हे मित्र! तुम कुशल हो?' मृगने कहा–'तू कौन है?'. वह बोला–'मैं क्षुद्रबुद्धि नामक गीदड़ हूं, इस बनमें बन्धुहीन मरेके समान रहता हूं; और अब तुमसे मित्रको पाकर फिर इस संसारमें बन्धुसहित जी उठा हूं और सब प्रकारसे तुमारा सेवक बन कर रहूंगा'। मृगने कहा–'ऐसाही हो, अर्थात् रहा कर। इसके अनन्तर किरणोंकी मालासे शोभित भगवान् सूर्यके अस्त हो जानेपर वे दोनों मृगके घरको गये और वहां चंपाके वृक्षकी डाल पर मृगका परम मित्र सुबुद्धि नाम कौवा रहता था। कौएने इन दोनोंको देखकर कहा—'मित्र! यह चितकबरा दूसरा कौन है?' मृगने कहा—'यह गीदड़ है। हमारे साथ मित्रता करनेकी इच्छासे आया है'। कौवा बोला—'मित्र! अनायास आए हुएके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये;

तथा चोक्तम्,—

> अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
> मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५६॥

कहाभी है कि—जिसका कुल और स्वभाव नहीं जाना है उसको घरमें कभी न ठहराना चाहिये। क्योंकि बिलावके अपराधसे एक बूढा गिद्ध मारा गया॥५६

तावाहतुः—'कथमेतत्?'। काकः कथयति—

यह सुन वे दोनों बोले—'यह कथा कैसे है?' कौवा कहने लगा,—

कथा ३

[अंधा गिद्ध, बिलाव और चिड़ियोंकी कहानी ३]

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः

स्वाहारात्किंचित्किंचिदुद्धृत्य ददति । तेनासौ जीवति । अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षितुं तत्रागतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्—'कोऽयमायाति ?'। दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा, हतोऽस्मि'।

गंगाजीके किनारे गृध्रकूट नाम पर्वत पर एक बड़ा पाकड़का पेड़ था। उसके खोखलेमें दुर्भाग्यसे एक अंधा तथा नखहीन जरद्गव नामक गिद्ध रहता था, और उस वृक्षके वासी कृपा करके उसके पालनके लिये अपने आहारमेंसे थोड़ा थोड़ा निकाल कर देते थे; उससे वह जीता था। फिर एक दिन दीर्घकर्ण नाम बिलाव पक्षियोंके बच्चे खानेके लिये वहां आया। पीछे उसे आया हुआ देख कर डरसे घबरा कर पक्षियोंके बच्चे चिहचिहाने लगे. यह सुन जरद्गवने कहा—'यह कौन आ रहा है ?'. दीर्घकर्ण गिद्धको देख डर कर बोला—'हाय, मैं मारा गया.'

यतः,—

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥ ५७ ॥

क्योंकि—भयसे तभी तक डरना चाहिये जब तक वह पास न आवे, परन्तु भयको पास आया देख कर मनुष्यको जो उचित हो सो करना चाहिये ॥ ५७ ॥

अधुनास्य संनिधाने पलायितुमक्षमः। तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु। तावद्विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपं गच्छामि ।' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—'आर्य ! त्वामभिवन्दे ।' गृध्रोऽवदत्—'कस्त्वम् ?'। सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम्'। गृध्रो ब्रूते—'दूरमपसर। नो चेद्धन्तव्योऽसि मया'। मार्जारोऽवदत्—'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम्। ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः।

अब इसके पाससे भाग नहीं सकता हूं, इसलिये जो होनहार है सो हो। पहले विश्वास पैदा कर इसके पास जाऊं। यह विचार उसके पास जाकर बोला–'हे महाराज ! मैं आपको प्रणाम करता हूं'. गिद्ध बोला–'तू कौन है ?'. वह बोला–'मैं बिलाव हूं'. गिद्ध बोला–'दूर हट जा; नहीं तो मैं तुझे मार डालूंगा'. बिलाव बोला–'पहले मेरी बात तो सुन, लो पीछे जो मैं मारनेके योग्य होऊं तो मार डालना।

यतः,—

> जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित्? ।
> व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

क्योंकि-केवल जातिसे क्या कभी कोई मारने अथवा सत्कार करने लायक होता है ? परंतु व्यवहारको जान कर मारने अथवा पूजनेके योग्य होता है॥५८॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि, किमर्थमागतोऽसि?'। सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। 'यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति। अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः।

गिद्ध बोला-'कह, किसलिये आया है?' वह बोला-'मैं यहां पर गंगाजीके किनारे नित्य स्नान करता हूं। मांसका भक्षण न करने वाला ब्रह्मचारी हूं और चान्द्रायण[१] व्रत करता हूं। 'तुम्हारी धर्म तथा ज्ञानमें प्रीति है और विश्वासपात्र हो', इस प्रकार सब पक्षी सदा मेरे सामने तुम्हारी प्रशंसा किया करते हैं। तुम विद्या और अवस्थामें बड़े हो, इसलिये आपसे धर्म सुननेके लिये यहां आया हूं और आप ऐसे धर्मी हैं कि मुझ अतिथिको मारनेके लिये तैयार हैं।

गृहस्थधर्मश्चैषः—

> अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
> छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५९ ॥

परन्तु गृहस्थधर्म तो यह है कि-अपने घर पर वैरीभी आवे तो उसका यथोचित आदर करना चाहिये, जैसे वृक्ष अपने (पास आये हुए) काटने वालेके पास गई अपनी छायाको समेट नहीं लेता है ॥ ५९ ॥

यदि वा धनं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथिः पूज्य एव ।

जो धन न हो तो मीठे २ वचनोंसेही अतिथिका सत्कार करना चाहिये ।

---

१ त्रिकाल-स्नान कर सावधान और जितेन्द्री होकर कृष्णपक्षमें एक २ ग्रास कम करे और शुक्लपक्षमें एक २ ग्रास बढ़ावे इसीको मनुने 'चान्द्रायण-व्रत' कहा है.

यतः,—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ६०॥

क्यों कि-कुशाका आसन, बैठनेकी भूमि, जल, और चौथी सत्य और मीठी वाणी इनका सज्जनोंके घरमें कमी टोटा नहीं होता है॥ ६०॥

अपरं च,—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः॥ ६१॥

और दूसरे-सज्जन लोग, गुणहीन प्राणियों परभी दया करते हैं। जैसे चन्द्रमा चाण्डालके घर पर पड़ी चांदनीको नहीं समेट लेता है॥ ६१॥

अन्यच्च,—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ ६२॥

और जिसके घरसे अतिथि विमुख लौट जाता है, वह अतिथि अपने पापको देकर और उस गृहस्थका पुण्य लेकर चला जाता है॥ ६२॥

अन्यच्च,—

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः[1]॥ ६३॥

और उत्तम वर्णके घर नीच वर्णकाभी अतिथि आवे तो उसका यथोचित सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय है॥ ६३॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः। पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति। तेनाहमेवं ब्रवीमि।' तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। ब्रूते च—'मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम्। परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम् 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्।

गिद्ध बोला—'बिलावकी मांसमें जरूर रुचि होती है, और यहां पक्षियोंके छोटे २ बच्चे रहते हैं. इसलिये मैं ऐसे कहता हूं'। यह सुन कर बिलावने भूमिको

१ कहा है कि, जो फल सब देवताओंकी सेवासे मिलता है वही फल अतिथिकी सेवासे मिलता है।

छूकर कानोंको छुआ, और बोला–'मैंने धर्मशास्त्र सुन कर और विषयवासनाको छोड़ यह कठिन चान्द्रायण व्रत किया है। आपसमें धर्मशास्त्रोंका विरोध होने परभी "हिंसा न करना यही परम धर्म है" इस मंतव्यमें सब एकमत हैं,—

यतः,—

सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६४ ॥

क्योंकि–जो मनुष्य सब प्रकारकी हिंसासे रहित हैं, सब(असह्य)को सहते हैं और सबको सहारा देते हैं वे स्वर्गको जाते हैं ॥ ६४ ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६५ ॥

एक धर्मही मित्र है जो मरने परभी (आत्माके) साथ जाता है, अन्य सब वस्तु शरीरके साथ (यहां) ही नाश हो जाती हैं ॥ ६५ ॥

योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ६६ ॥

जो प्राणी जिस समय, जिस प्राणिका मांस खाता है उन दोनोंमें अन्तर देखो–एकको तो केवल क्षणभरका संतोष होता है और दूसरा प्राणोंसे जाता है ॥ ६६ ॥

मर्तव्यमिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते।
शक्यते नानुमानेन परेण परिवर्णितुम् ॥ ६७ ॥

"मुझे अवश्य मरना होगा" ऐसी चिन्तासे मनुष्यको जो (प्रत्यक्ष) दुःख होता है वह दुःख (केवल) अनुमानसे दूसरा मनुष्य वर्णन नहीं कर सकता है ॥ ६७ ॥

शृणु पुनः,—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत्? ॥ ६८ ॥

फिर सुनो–जो पेट अपने आप उगी हुई साग–भाजीसे भी भरा जा सकता है, उस जले पेटके लिये ऐसा बड़ा (भयकर) पाप कौन करे? ॥ ६८ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः।

इस प्रकार विश्वास पैदा कर वह बिलाव वृक्षके खोडरमें रहने लगा।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति। येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो

जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरं त ऊचुः—"अनेनैव जरद्गवेनास्माकं शावकाः खादिताः" इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-"अज्ञातकुलशीलस्य-" इत्यादि'॥ इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्धते?

और थोड़े दिन बीत जाने पर वह पक्षियोंके बच्चोंको पकड़ खोडरमें लाकर नित्य खाने लगा। जिन पक्षियोंके बच्चे खाये गये थे वे शोकसे व्याकुल विलाप करते हुए इधर उधर ढूंढ़ने लगे। बिलाव यह जान कर खोडरसे निकल कर बाहर भाग गया। उसके पीछे इधर उधर ढूंढ़ते हुए पक्षियोंने उस पेड़की खोड़रमें बच्चोंकी हड्डियां पाईं। फिर उन्होंने कहा कि-"इस जरद्गवने हमारे बच्चे खाये हैं"। यह बात सब पक्षियोंने निश्चय करके उस बूढे गिद्धको मार डाला। इसीलिये मैं कहता हूं कि—"जिसका कुल और स्वभाव" इत्यादि'. यह सुन वह सियार झुंझल कर बोला-'मृगसे पहलेही मिलनेके दिन तुम्हाराभी तो कुल और स्वभाव नहीं जाना गया था, फिर किस प्रकार तुम्हारे साथ इसकी गाढ़ी मित्रता क्रम क्रमसे बढ़ती जाती है?

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते॥ ६९॥

जहां पंडित नहीं होता है वहां थोड़े पढ़ेकीभी बड़ाई होती है। जैसे कि जिस देशमें पेड़ नहीं होता है वहां अरण्डाका वृक्षही पेड़ गिना जाता है॥ ६९॥

अन्यच्च,—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ ७०॥

और दूसरे यह अपना है या पराया है, यह अल्पबुद्धियोंकी गिनती (समझ) है। उदारचरित वालोंको तो सब पृथ्वीही कुटुंब है॥ ७०॥

यथायं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि'। मृगोऽब्रवीत्—'किमनेनोत्तरेण? सर्वैरेकत्र विश्रम्भालापैः सुखिभिः स्थीयताम्।

जैसा यह मृग मेरा बन्धु (दोस्त) है वैसेही तुमभी हो'। मृग बोला-'इस उत्तर-प्रत्युत्तरसे क्या है? सब एक स्थानमें विश्वासकी बातचीत कर सुखसे रहो।

यतः,—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा' ॥ ७१ ॥

क्योंकि-न तो कोई किसीका मित्र है, और न कोई किसीका शत्रु है। व्यवहारसे मित्र तथा शत्रु बन जाते हैं' ॥ ७१ ॥

काकेनोक्तम्—'एवमस्तु।' अथ प्रातः सर्वे यथाभिमतदेशं गताः।

कौवेने कहा-'ठीक है'। फिर प्रातःकाल सब अपने २ मनमाने देशको गये ॥

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—'सखे! अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णक्षेत्रमस्ति। तदहं त्वां नीत्वा दर्शयामि।' तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। अथ क्षेत्रपतिना तद्दृष्ट्वा पाशो योजितः। अनन्तरं पुनरागतो मृगः पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्-'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः?' अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्रागत्योपस्थितोऽचिन्तयत्-'फलिता तावदस्माकं कपटप्रबन्धेन मनोरथसिद्धिः। एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तान्यस्थीनि मयावश्यं प्राप्तव्यानि। तानि बाहुल्येन भोजनानि भविष्यन्ति।' मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्।

एक दिन एकांतमें सियारने कहा-'मित्र मृग! इस बनमें एक दूसरे स्थानमें अनाजसे भरा हुआ खेत है, सो चल तुझे दिखाऊं'। वैसा करने पर मृग वहां जा कर नित्य अनाज खाता रहा। एक दिन उसे खेत वालेने देख कर फंदा लगाया। इसके अनन्तर जब वहां मृग फिर चरनेको आया सोही जालमें फँस गया और सोचने लगा-'मुझे इस कालकी फांसीके समान व्याधके फंदेसे मित्रको छोड़ कौन बचा सकता है?'. इस बीचमें शृगाल वहां आकर उपस्थित हुआ, और सोचने लगा-'मेरे छलकी चाल (सफाई)से मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ और इस उधड़े हुएकी मांस और लोहू लगी हुई हड्डियां मुझे अवश्य मिलेंगी और वे मनमानी खानेके लिये होंगी.' मृग उसे देख प्रसन्न होकर बोला—'हे मित्र! मेरा बन्धन काटो और मुझे शीघ्र बचाओ।

यतः,—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ ७२ ॥

आपत्तिमें मित्र, युद्धमें शूर, उधार(ऋण)में सच्चा व्यवहार, निर्धनतामें स्त्री और दुःखमें भाई (या कुटुंबी) परखे जाते हैं ॥ ७२ ॥

अपरं च,—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ७३ ॥

और दूसरे-विवाहादि उत्सवमें, आपत्तिमें, अकालमें, राज्यके पलटनेमें, राजद्वारमें तथा श्मशानमें, जो साथ रहता है वह बान्धव है' ॥ ७३ ॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः ।' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः । तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि? मित्र! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम् ।' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं दृष्ट्वोवाच—'सखे! किमेतत्?' । मृगेणोक्तम्-'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् ।

सियार जालको बार बार देख सोचने लगा-'यह बड़ा कड़ा बंधा है'. और बोला-'मित्र! ये फंदे तांतके बने हुए हैं, इसलिये आज रविवारके दिन इन्हें दांतोंसे कैसे छुऊं? मित्र! जो बुरा न मानो तो प्रातःकाल जो कहोगे सो करूंगा'। ऐसा कह कर उसके पासही वह अपनेको छिपा कर बैठ गया। पीछे वह कौवा सांझ होने पर मृगको नहीं आया देख कर इधर उधर ढूंढते ढूंढते उस प्रकार उसे (बंधनमें) देख कर बोला-'मित्र! यह क्या है?'. मृगने कहा-'मित्रका वचन नहीं माननेका फल है;

तथा चोक्तम्,—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः' ॥ ७४ ॥

जैसा कहा है कि-जो मनुष्य अपने हितकारी मित्रोंका वचन नहीं सुनता है उसके पासही विपत्ति है, और वह अपने शत्रुओंको प्रसन्न करने वाला है' ॥७४॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वास्ते?'। मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव'। काको ब्रूते—'उक्तमेव मया पूर्वम्,-

कौवा बोला-'वह ठग कहां है?'. मृगने कहा-'मेरे मांसका लोभी यहांही कहीं बैठा होगा?'. कौवा बोला-'मैंने पहलेही कहा था,—

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७५ ॥

'मेरा कुछ अपराध नहीं है' अर्थात् मैंने इसका कुछ नहीं बिगाड़ा है, अत एव यहभी मेरे संग विश्वासघात न करेगा यह बात कुछ विश्वासका कारण नहीं है। क्योंकि गुण और दोषको विना सोचे शत्रुता करने वाले नीचोंसे सज्जनोंको अवश्य भय होता ही है ॥ ७५ ॥

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ७६ ॥

और जिनकी मृत्यु पास आ लगी है, ऐसे मनुष्य न तो बुझे हुए दियेकी चिरांद सूंघ सकते हैं, न मित्रका वचन सुनते हैं और न अरुन्धतीके[१] तारेको देख सकते हैं ॥ ७६ ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्' ॥ ७७ ॥

पीठ पीछे काम बिगाड़ने वाले और मुख पर मीठी २ बातें करने वाले मित्रको, मुखपर दूध वाले विषके घड़ेके समान छोड़ देना चाहिये' ॥ ७७ ॥

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य 'अरे वञ्चक! किं त्वया पापकर्मणा कृतम्?

कौवेने लंबी सांस भर कर कहा कि-'अरे ठग! तुझ पापीने यह क्या किया? यतः,—

संलापितानां मधुरैर्वचोभि-
र्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम्।

---

१ आकाशमें सप्त ऋषियोंके तारोंके पास एक बहुत छोटासा तारा है।

आशावतां विश्वसतां च लोके
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ? ॥ ७८ ॥

क्यों कि–अच्छे प्रकारसे बोलने वालोंको, मीठे २ वचनों तथा मिथ्या कपटसे वशमें किये हुओंको, आशा रखने वालोंको, भरोसा रखने वालोंको, और धनके याचकोंको, ठगना क्या बड़ी बात है ? ॥ ७८ ॥

उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ? ॥ ७९ ॥

और–हे पृथ्वी ! जो मनुष्य उपकारी, विश्वासी तथा भोले भाले मनुष्यके साथ छल (ठगाई) करता है उस ठग पुरुषको हे भगवति पृथ्वी ! तू कैसे धारण करती है ? ॥ ७९ ॥

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८० ॥

दुष्टके साथ मित्रता और प्रीति नहीं करनी चाहिये । क्योंकि गरम अंगारा हाथको जलाता है और ठंडा हाथको काला कर देता है ॥ ८० ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम् ,—

अथवा दुर्जनोंका यही आचरण है,—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८१ ॥

मच्छर, दुष्टके समान सब चरित्र करता है, अर्थात् जैसे दुष्ट पहले पैरों पर गिरता है वैसेही यहभी गिरता है । जैसे दुष्ट पीठ पीछे बुराई करता है वैसेही यह भी पीठमें काटता है । जैसे दुष्ट कानके पास मीठी २ बात करता है वैसेही यह भी कानके पास मधुर विचित्र शब्द करता है । और जैसे दुष्ट आपत्तिको देख कर निडर हो बुराई करता है वैसेही मच्छर भी छिद्र अर्थात् रोमके छेदमें प्रवेश कर काटता है ॥ ८१ ॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम्' ॥ ८२ ॥

और दुष्ट मनुष्यका प्रियवादी होना यह विश्वासका कारण नहीं है। उसकी जीभके आगे मिठास और हृदयमें हालाहल विष भरा है' ॥ ८२ ॥

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन् काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसि।' मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः, स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव। ततः काकशब्दं श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः।

पीछे प्रातःकाल कौवेने उस खेत वालेको लकडी हाथमें लिये उस स्थान पर आता हुआ देखा. उसे देख कर कौवेने मृगसे कहा—'मित्र हरिण! तू अपने शरीरको मरेके समान दिखा कर पेटको हवासे फुला कर और पैरोंको ठिठिया कर बैठ जा। जब मैं शब्द करूं तब तू झट उठ कर जल्दी भाग जाना'. मृग उसी प्रकार कौवेके वचनसे पड गया। फिर खेत वालेने प्रसन्नतासे आंख खोल कर उस मृगको इस प्रकार देखा.'आहा! यह तो आपही मर गया' ऐसा कह कर मृगकी फांसीको खोल कर जालको समेटनेका यत्न करने लगा. पीछे कौवेका शब्द सुन कर मृग तुरंत उठ कर भाग गया. इसको देख उस खेत वालेने ऐसी फेंक कर लकडी मारी कि उससे सियार मारा गया;

तथा चोक्तम्,—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते॥ ८३ ॥

जैसा कहा है–प्राणी तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष, और तीन दिनमें, अधिक (बेहद) पाप और पुण्यका फल यहां ही भोगता है ॥ ८३ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—"भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः" इत्यादि' ॥

इसी लिये मैं कहता हूं–"भोजन और भोजन करने वालेकी प्रीति" इत्यादि'।

काकः पुनराह—

'भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ! ॥ ८४ ॥

फिर कौवा बोला—'तुझे खा लेनेसे भी तो मेरा बहुत आहार नहीं होगा. मैं निष्कपट चित्रग्रीवके समान तेरे जीनेसे जीता रहूंगा ॥ ८४ ॥

अन्यच्च,—

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ८५ ॥

और (पुण्यात्मामें) मृग-पक्षियोंकाभी विश्वास देखा जाता है; क्योंकि, पुण्यही करने वाले सज्जनोंका स्वभाव सज्जनताके कारण कभी नहीं पलटता है ॥ ८५ ॥

किंच,—

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया' ॥ ८६ ॥

और चाहे जैसे क्रोधमें क्यों न हो सज्जनका स्वभाव कभी डामाडोल न होगा, जैसे (जलते हुए) तनकोंकी आंचसे समुद्रका जल कौन गरम कर सकता है ?' ॥ ८६ ॥

हिरण्यको ब्रूते–'चपलस्त्वम् । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः ।

हिरण्यकने कहा–'तू चंचल है. ऐसे चंचलके साथ स्नेह कभी नहीं करना चाहिये.

तथा चोक्तम्,—

मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः ॥ ८७ ॥

जैसा कहा है कि–बिल्ली, भैंसा, मेढ़, काक और ओछा (नीच) आदमी विश्वास करनेसे ये अपनी प्रभुता दिखाते हैं, इसलिये इनमें विश्वास करना उचित नहीं है ॥ ८७ ॥

किं चान्यत्, शत्रुपक्षो भवानस्माकम् ।

और दूसरा—तुम मेरे वैरियोंके पक्षके हो;

उक्तं चैतत्,—

शत्रुणा न हि संदध्यात् सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८८ ॥

और यह कहा है कि वैरी चाहे जितना मीठा बन कर मेल करे परन्तु उसके साथ मेल न करना चाहिये, क्योंकि पानी चाहे जितनाभी गरम हो आगको बुझाही देता है ॥ ८८ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ? ॥ ८९ ॥

दुर्जन विद्यावान्‌भी हो परन्तु उसे छोड़ देना चाहिये, क्योंकि रत्नसे शोभायमान सर्प क्या भयंकर नहीं होता है ? ॥ ८९ ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९० ॥

जो बात नहीं हो सकती है वह कदापि नहीं हो सकती है, और जो हो सकती है वह हो ही सकती है; जैसे पानी पर गाड़ी नहीं चलती और जमीन पर नाव नहीं चल सकती है ॥ ९० ॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥ ९१ ॥

और दूसरे–जो मनुष्य अधिक प्रयोजनसे शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है उसके जीनेका अंत आपहुँचा है (मृत्यु संनिध है)' ॥९१॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान्संकल्पः–'त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयम्' इति । नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि ।

लघुपतनक कौवा बोला–'मैंने सब सुन लिया, तोभी मेरा इतना संकल्प है कि तेरे संग मित्रता अवश्य करनी चाहिये. नहीं तो भूखा मर अपघात करूंगा.

तथा हि,—

मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः ॥ ९२ ॥

और देख-दुर्जन मनुष्य मट्टीके घड़ेके समान सहज टूटी जा सकता है और फिर उसका जुड़ना कठिन है. और सज्जन सोनेके घड़ेके समान है कि कभी टूट नहीं सकता और जो टूटे भी तो शीघ्र जुड़ सकता है ॥ ९२ ॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९३ ॥

और सोना, चांदी आदि धातुओंका गलानेसे, पशुपक्षियोंका पूर्वजन्मके संस्कारसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, और सज्जनोंका केवल दर्शनसेही मेल होता है ॥ ९३ ॥

किंच,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९४ ॥

और सज्जन पुरुष नारियलके समान बाहरसे दीखते हैं अर्थात ऊपरसे सख्त और भीतरसे मीठे, और दुर्जन बेरफलके आकारके समान बाहरहीसे मनोहर होते हैं ॥ ९४ ॥

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९५ ॥

स्नेह टूट जाय तो भी सज्जनोंके गुण नहीं पलटते हैं, जैसे कमलकी डंडीके टूटने परभी उसके तंतु जुड़ेही रहते हैं ॥ ९५ ॥

अन्यच्च,—

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ९६ ॥

और दूसरे-पवित्रता अर्थात् निष्कपटता, दानशीलता, शूरता, सुख-दुःखमें समानता, अनुकूलता, प्रीति और सत्यता ये मित्रोंके गुण हैं ॥ ९६ ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ?' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह—'आप्यायितोऽहं भवतामनेन वचनामृतेन ।

इन गुणोंसे युक्त तुम्हें छोड़ और किसको मित्र पाऊंगा' उसकी ऐसी (मीठी) बातें सुन कर हिरण्यक बाहर निकल कर बोला-'तुम्हारे वचनरूपी अमृतसे मैं तृप्त हुआ;

तथा चोक्तम्,—

घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥ ९७ ॥

जैसा कहा है कि–सुन्दर २ युक्तियोंसे शोभायमान, पुण्यात्माओंके आकर्षण मंत्रके समान प्रीतिसे कहा हुआ सज्जनोंका वचन जैसा चित्तको अत्यन्त सुखकारी होता है वैसा शीतल जलसे स्नान, मोतियोंकी माला और अंगअंगमें लगा हुआ लेपन किया हुआ चंदन भी धूपके सताये हुएको सुख नहीं देता है ॥ ९७ ॥

अन्यच्च,—

रहस्यभेदो याञ्चा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ ९८ ॥

और दूसरे–गुप्त बातको प्रकट करना, धन आदिकी याचना, कठोरता, चित्तकी चंचलता, क्रोध, झूँठ और जुआ, ये मित्रके दूषण हैं ॥ ९८ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते ।

सो तुम्हारी बातोंके ढंगसे उनमेंसे एकभी दोष तुममें नहीं दीखता है.

यतः,—

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ ९९ ॥

क्योंकि–चातुर्य और सत्य यह बातचीतसे जान लिये जाते हैं, और नम्रता और शांतता ये प्रत्यक्ष जानी जाती हैं ॥ ९९ ॥

अपरं च,—

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०० ॥

और दूसरे—निष्कपट चित्त वालेकी मित्रता अन्यही तरहकी होती है और जिसका हृदय शठतासे बिगड रहा है उसकी वाणी औरही प्रकारकी होती है ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कार्यमन्यद्दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०१ ॥

दुर्जनोंके मनमें कुछ, वचनमें और काममें कुछ; और सज्जनोंके जीमें, वचनमें और काममें एक बात होती है ॥ १०१ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव।' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भालापैश्च कालोऽतिवर्तते।

इसलिये तेरा ही मनोरथ हो।' यह कह कर हिरण्यक मित्रता करके विविध प्रकारके भोजनसे कौवेको संतुष्ट करके बिलमें घुस गया। और कौवाभी अपने स्थानको चला गया। उस दिनसे उन दोनोंका आपसमें भोजनके देने-लेनेसे, कुशल पूछनेसे और विश्वासयुक्त बातचीतसे समय कटने लगा।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि।' हिरण्यको ब्रूते-'मित्र! क गन्तव्यम्?

एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा-'मित्र! इस स्थानमें बड़ी मुश्किलीसे भोजन मिलता है, इसलिये इस स्थानको छोड़ कर दूसरे स्थानमें जाना चाहता हूं'। हिरण्यकने कहा-'मित्र! कहां जाओगे?

तथा चोक्तम्,—

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्'॥ १०२॥

ऐसा कहा है कि-बुद्धिमान् एक पैरसे चलता है और दूसरेसे ठहरता है। इसलिये दूसरा स्थान निश्चय किये विना पहला स्थान नहीं छोड़ना चाहिये॥ १०२॥

वायसो ब्रूते-'अस्ति सुनिरूपितस्थानम्।' हिरण्यकोऽवदत्-'किं तत्?'। वायसो ब्रूते—'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कच्छपो धार्मिकः प्रतिवसति।

कौवा बोला—'एक अच्छी भांति देखा भाला स्थान है'। हिरण्यक बोला—'कौनसा है?'. कौआ कहने लगा—'दण्डकवनमें कर्पूरगौर नाम एक सरोवर है, उसमें मन्थरनाम एक धर्मशील कछुआ मेरा बड़ा पुराना और प्यारा मित्र रहता है.

यतः,—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥ १०३ ॥

क्योंकि–दूसरोंको उपदेश करना सब मनुष्योंको सहज है, परन्तु आपका धर्म पर चलना किसी विरलेही महात्मासे होता है ॥ १०३ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति।' हिरण्यकोऽप्याह—'तत्किमत्रावस्थाय मया कर्तव्यम् ?

और वह विविध प्रकारके भोजनोंसे मेरा सत्कार करेगा' । हिरण्यकभी बोला—'तो मैं यहां रह कर क्या करूंगा ?

यतः,—

यस्मिन्देशे न संमानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०४ ॥

क्योंकि–जिस देशमें न सन्मान, न जीविकाका साधन, न भाई (या संबंधी) और कुछ विद्याका भी लाभ न हो उस देशको छोड़ देना चाहिये ॥ १०४ ॥

अपरं च,—

लोकयात्राऽभयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥ १०५ ॥

और दूसरे–जीविका, अभय, लज्जा, सज्जनता तथा उदारता, ये पांच बातें जहां न हो वहां नहीं रहना चाहिये ॥ १०५ ॥

तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १०६ ॥

और हे मित्र ! जहां ऋण देने वाला, वैद्य, वेदपाठी और सुन्दर जलसे भरी नदी, ये चार न हो वहां नहीं रहना चाहिये ॥ १०६ ॥

ततो मामपि तत्र नय।' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्रालापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ। ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषकस्यातिथिसत्कारं चकार।

इसलिये मुझे भी वहां ले चल।' पीछे कौवा उस मित्रके साथ अच्छी अच्छी बातें करता हुआ बेखटके उस सरोवरके पास पहुंचा । फिर मन्थरने उसे

दूरसे देखतेही लघुपतनकका यथोचित अतिथिसत्कार करके चूहेकाभी अतिथि-सत्कार किया।

यतः,—

बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ १०७॥

क्योंकि–बालक, बूढा तथा युवा इनमेंसे घर पर कोई आया हो उसका आदर सत्कार करना चाहिये. क्योंकि अभ्यागत सब (चारों वर्णों)का पूज्य है ॥१०७॥

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ १०८॥

ब्राह्मणोंको अग्नि, चारों वर्णोंको ब्राह्मण, स्त्रियोंको पति और सबको अभ्यागत सर्वदा पूजनीय है ॥ १०८ ॥

वायसोऽवदत्—'सखे मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि। यतोऽयं पुण्यकर्मणा धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः। एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात्।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—'भद्र! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि।' हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि। श्रूयताम्,—

कौआ बोला–'मित्र मन्थर! इसका अधिक सत्कार कर. क्योंकि यह पुण्यात्माओंका मुखिया और करुणाका समुद्र हिरण्यक नाम चूहोंका राजा है। इसके गुणोंकी बडाई दो सहस्र जीभोंसे शेष नागभी कभी नहीं कर सकता है'। यह कह कर चित्रग्रीवका वृत्तान्त कह सुनाया। मन्थर बडे आदरसे हिरण्यकका सत्कार करके पूछने लगा–'हे मित्र। इस निर्जन वनमें अपने आनेका भेद तो कहो'। हिरण्यक बोला—'मैं कहता हूँ, सुनो—

कथा ४

[संन्यासी और धनिक चूहेकी कहानी ४]

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति। स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति। अहं च तदन्नमुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम-

परिव्राजकः समायातः। तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। वीणाकर्ण उवाच—'सखे! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्?' चूडाकर्णेनोक्तम्—'मित्र! नाहं विरक्तः। किंतु पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति।' वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याह—'कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति? तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम्।

चम्पका नाम नगरीमें संन्यासियोंकी एक बस्ती है। वहां चूडाकर्ण नाम संन्यासी रहता था। और वह भोजनसे बचेखुचे भिक्षाके अन्नसहित भिक्षापात्रको खूंटीपर टांग कर सोजाया करता था। और मैं उस भोजनके पदार्थको उछल उछल कर नित्य खाया करता था। उसके उपरान्त उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण नाम संन्यासी आया। चूडाकर्णने उसके साथ नानाभांतिकी कथाके प्रसंगमें लग कर मुझको डरानेके लिये एक पुराने बाँसके टुकडेसे पृथ्वी खटखटायी. वीणाकर्ण बोला—'मित्र! यह क्या बात है? कि (तुम) मेरी कथामें विरक्त और दूसरीमें लगे हो'॥ चूडाकर्णने कहा कि 'मित्र! मैं विरक्त नहीं हूं। परन्तु देखो—यह चूहा मेरा अपकारी है, पात्रमें धरे हुए भिक्षाके अन्नको सदा उछल उछल कर खा जाता है.' वीणाकर्णने खूंटीकी ओर देख कर कहा—'यह दुबला पतला-सा भी चूहा कैसे इतना ऊपर उछलता है? इसलिये इसमें कुछ न कुछ कारण होना चाहिए।

तथा चोक्तम्—

अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति।
पतिं निर्दयमालिङ्ग्य हेतुरत्र भविष्यति' ॥ १०९ ॥

जैसा कहा है कि—यकायक एक जवान स्त्रीने केश पकड कर और प्रेमसे आलिंगन करके अपने बूढे पतिका मुख चुम्बन किया (वैसाही) इसमें कोई कारण होगा' ॥ १०९ ॥

चूडाकर्णः पृच्छति—'कथमेतत्?'। वीणाकर्णः कथयति—

चूडाकर्ण पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' वीणाकर्ण कहने लगा—

कथा ५

[बूढा बनिया और उसकी व्यभिचारिणी स्त्रीकी कहानी ५]

अस्ति गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी। तस्यां चन्दनदासनामा वणिग्महाधनो निवसति। तेन पश्चिमे वयसि वर्तमानेन कामाधि-

ष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावती नाम वणिक्पुत्री परिणीता। सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती बभूव। स च वृद्धपतिस्तस्याः संतोषाय नाभवत्।

बंगाल देशमें कौशाम्बी नाम एक नगरी है। उसमें चन्दनदास नाम एक बड़ा धनवान् बनिया रहता था। उसने बुढ़ापेमें कामातुर हो कर धनके मदसे लीलावती नाम एक बनियेकी बेटीसे विवाह कर लिया। वह लीलावती कामदेवकी विजयपताकाके समान तारुण्यतरङ्गिता हुई. पर वह बूढ़ा पति उसके संतोष करनेके लिये योग्य नहीं था।

यतः,—

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ॥ ११०॥

क्योंकि—जैसे पालेसे मरे हुओंका चित्त चन्द्रमामें, और धूपसे दुःखियों का सूरजमें नहीं लगता है वैसेही स्त्रियोंका मन शिथिल इन्द्रियोंवाले पतिमें नहीं लगता है॥ ११०॥

अन्यच्च,—

पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता?।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः॥ १११॥

और दूसरे—जब बाल श्वेत हो गये तब पुरुषको कामकी योग्यता कहां? क्योंकि जिन स्त्रियोंका दिल अन्य पुरुषोंसे लग रहा है वे (ऐसे पतिको) औषधके समान समझती हैं॥ १११॥

स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान्।

और वह बूढ़ा पति उस पर अत्यंत आसक्त था.

यतः,—

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ ११२॥

क्योंकि-प्राणधारियोंको धन और जीवनकी बड़ी आशा होती है, लेकिन बूढ़ेको तरुण स्त्री प्राणोंसेभी अधिक प्यारी होती है॥ ११२॥

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम्॥ ११३॥

बूढ़ा मनुष्य न तो विषयोंको भोग सकता है और न त्यागभी कर सकता है। जैसे दंतहीन कुत्ता हड्डीको चबा नहीं सकता है, (पर आसक्त होनेसे) केवल जीभसे चाटता है ॥ ११३ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि वणिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव।

फिर उस लीलावतीने यौवनके मदसे अपनी कुलकी मर्यादाको छोड़ किसी बनियेके पुत्रसे प्रेमवश हुई.

यतः,—

स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-
र्गोष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियः ॥ ११४ ॥

क्योंकि-स्वतन्त्रता, पिताके घरमें (ज्यादह काल) रहना, यात्रा आदि उत्सवमें किसीका संग, पुरुषके साथ गप लड़ाना, नियममें न रहना, परदेशमें रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियोंके सहवासमें रहना, बार बार अपने सच्चरित्रका खोना, पतिका बूढ़ा होना, ईर्षा करना, और स्वामीका परदेशमें रहना ये स्त्रियोंके नाश(बिगड़ने)के कारण हैं ॥ ११४ ॥

अपरं च,—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट् ॥ ११५ ॥

और दूसरे—मद्यपान, दुष्ट लोगोंका सहवास, पतिका विरह, इधर उधर घूमते रहना, दूसरेके घरमें सोना अगर रहना, ये छः स्त्रियोंके दूषण हैं ॥ ११५ ॥

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ ११६ ॥

हे नारद ! (व्यभिचारके लिये) एकांत स्थान, मौका और प्रार्थना करने वाला मनुष्य इनके न होनेसे स्त्रियोंका पतिव्रतधर्म रहता है ॥ ११६ ॥

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ११७ ॥

स्त्रियोंका कोई अप्रिय अथवा प्रियभी नहीं है, जैसे वनमें गायें नये नये तृणको चाहती हैं वैसेही स्त्रियें भी नवीन नवीन पुरुषको चाहती हैं ॥ ११७ ॥

अपरं च,—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद्घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद्बुधः ॥ ११८ ॥

और,—स्त्री घीके घड़ेके समान है और पुरुष जलते हुये अंगारके समान है, इसलिये बुद्धिमानको चाहिए कि घी और अग्निको पास पास न रखे ॥ ११८ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ ११९ ॥

पुरुषको, माता, बहिन और बेटी, इनके पासभी एकांतमें नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि इंद्रियां बड़ी बलवान् हैं, ये जितेन्द्रियकोभी वशमें कर लेती हैं ॥ ११९ ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता ।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १२० ॥

स्त्रियोंको पतिव्रत रखनेमें न लज्जा, न विनय, न चतुरता और न भय कारण है, परन्तु केवल प्रार्थनाका न होना (अर्थात् परपुरुषसे संभोगकी प्रार्थना न होना) ही एक कारण है ॥ १२० ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १२१ ॥

बचपनमें पिता, जवानीमें पति, और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करता है, एवं स्त्रीको कदापि स्वतंत्रता योग्य नहीं है ॥ १२१ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती । तेनावसरेण जारश्च पलायितः ।

एक दिन (पतिकी अनुपस्थितीमें) वह लीलावती रत्नोंकी बाढ़की झलकसे रंगबिरंगे पलंग पर उस बनियेके पुत्रके साथ जी खोल कर बातें करती हुई आनन्दसे बैठी थी इतनेमें अचानक आये हुये उस अपने पतिको देख कर यकायक उठी और बाल पकड़ कर, अत्यन्त चिपट कर उसको चूमने लगी और इस अवसरमें (मौका देख कर) यारभी भाग गया;

उक्तं च,—

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥ १२२ ॥

और कहा भी है कि—जो शास्त्र शुक्राचार्य जानते हैं और जो शास्त्र बृहस्पतिजी जानते हैं वह शास्त्र स्त्रीकी बुद्धिमें स्वभावहीसे होता है ॥ १२२ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्तयत्—'अकस्मादियमेनमुपगूढवती' इति ततस्तया कुटन्या तत्कारणं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता; अतोऽहं ब्रवीमि—"अकस्माद्युवती वृद्धम्" इत्यादि । मूषिकबलोपष्टम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम् ।'

बूढे पतिके साथ स्त्रीका आलिंगन देख कर पास बैठने वाली कुटनी चिंता करने लगी कि, 'भला यह ज्वान औरत इस बूढेको क्यों लिपट गई ?' फिर उस कुटनीने उसका कारण जान कर लीलावतीको अकेली देखकर डाटा; इसलिये मैं कहता हूं "अचानक जवान स्त्रीने वृद्धको" इत्यादि ॥ चूहेको बलका अहंकार यहां परभी किसी न किसी कारणसेही है ॥

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव भविष्यति ।

थोड़ी देर विचार कर संन्यासीने कहा—'इसमें धनकी अधिकताका कारण होगा,

यतः,—

धनवान् बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥ १२३ ॥

क्योंकि—सर्वत्र, संसारमें सब मनुष्य धनसेही सदा बलवान् होते हैं और राजाओंकी प्रभुताकी जड़ धनही होता है ॥ १२३ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः ।

फिर कुदाली लाकर उसने बिलको खोद कर मेरा बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ धन ले लिया। उसी दिनसे अपने सामर्थ्यसे हीन, बल और उत्साहसे रहित, अपना आहारभी ढूंढ़नेके अयोग्य, डरके मारे धीरे धीरे चलते हुए मुझको चूडाकर्णने देखा ॥

ततस्तेनोक्तम्—

'धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ १२४ ॥

फिर उसने कहा कि, दुनियामें आदमी धनसे बलवान् और धनसेही पण्डित माना जाता है ॥ इस पापी चूहेको देखो (धनहीन होनेसे) अपनी जातिके समान हो गया ॥ १२४ ॥

किं च,—

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १२५ ॥

और धनसे रहित बुद्धिहीन मनुष्यके तो सब काम बिगड़ जाते हैं, जैसे गरमीकी ऋतुमें छोटी छोटी नदियां (सूख जा कर बिगड़ जाती हैं) ॥ १२५ ॥

अपरं च,—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥ १२६ ॥

और दुनियामें जिसके पास धन है उसीके सब मित्र और उसीके बान्धव हैं; और जिसके पास धन है वही महान् पुरुष और वही बड़ा पण्डित है ॥ १२६ ॥

अन्यच्च,—

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२७ ॥

और सच्चे मित्रसे हीन और पुत्रहीन (पुरुष)का घर सूना है। मूर्खकी सब दिशाएँ सूनी हैं, अर्थात् मूर्खताके कारण कहीं आदर नहीं पा सकता है, और दरिद्रता तो सब सूनोंका (केन्द्र) स्थान है अर्थात् सब सुखोंसे रहित है ॥ १२७ ॥

अपि च,—

दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥ १२८ ॥

और भी—दरिद्रता और मरना इन दोनोंमेंसे दरिद्रता बुरी कही है, क्योंकि मरना तो थोड़े क्लेशसे होता है और दरिद्रता हमेशा दुःख देती है ॥ १२८ ॥

अपरं च,—

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्' ॥ १२९ ॥

और दूसरे—वे ही विकारसे रहित इन्द्रियां हैं, वही नाम है, वही निर्मल बुद्धि है, वही वाणी है, परन्तु धनकी उष्णतासे रहित वो ही मनुष्य क्षणभरमें कुछका कुछ हो जाता है; ॥ १२९ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयालोचितम्–'ममात्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्। यच्चान्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम् ।

यह सब सुन कर मैंने सोचा—'मेरा अब यहां रहना ठीक नहीं है । और जो दूसरेसे यह समाचार कहनाभी उचित नहीं है,

यतः,—

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १३० ॥

क्योंकि—बुद्धिमान् पुरुषको अपने धनका नाश, मनका संताप, घरका दुराचार, ठगा जाना, और अपमान, ये प्रकट न करने चाहिये ॥ १३० ॥

अपि च,—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥ १३१ ॥

औरभी—आयु, धन, घरका भेद (रहस्य), गुप्त बात, मैथुन, औषधि, तप, दान और अपमान, इन नौ बातोंको यत्नसे गुप्त रखना चाहिये ॥ १३१ ॥

तथा चोक्तम्,—

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ? ॥ १३२ ॥

जैसा कहा है कि—जब पुरुषार्थही में निष्फलता होने लग जाए और भाग्यकी अत्यन्त प्रतिकूल दशामें धीरज वाले दरिद्री मनुष्यको वनको छोड़ और कहां सुख धरा है ? (याने उसको स्वस्थान छोड़ कर कहांही वनमें जाना यही उचित है) ॥ १३२ ॥

अन्यच्च,—

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥ १३३ ॥

और दूसरे–उदार पुरुष मर जाय पर कृपणता नहीं करता है (अपनी लाचारी नहीं बताता है) जैसे अग्नि भले बुझ जाय, पर ठंडी नही होती है ॥ १३३ ॥

किं च,—

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विन ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १३४ ॥

और पुष्पके,–गुच्छेके समान उदार मनुष्यकी दो तरहकी प्रकृति होती है कि या तो सबके शिर पर रहे या वनमें कुम्हला जाय ॥ १३४ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम् ।

और जो यहां याचना कर जीना है वह तो बिलकुल अच्छा नहीं है,

यतः—

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १३५ ॥

क्योंकि—धनहीन मनुष्य प्राणोंको अग्निमें झोंक दे सो अच्छा, परन्तु अपने मानको छोड़ कर कृपण मनुष्यसे याचना करना अच्छा नहीं है ॥ १३५ ॥

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १३६ ॥

और निर्धनतासे मनुष्यको लज्जा होती है, लज्जासे पराक्रम नष्ट हो जाता है, पराक्रम न होनेसे अपमान होता है, अपमान होनेसे दुःख पाता है, दुःखसे शोक करता है, शोकसे बुद्धिहीन हो जाता है, और बुद्धि न होनेसे नाश हो जाता है । अहो, निर्धनता ही सब आपत्तियोंका स्थान है ॥ १३६ ॥

किं च,—

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैव्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥ १३७ ॥

और चुप रहना अच्छा, पर मिथ्या (झूठा) वचन कहना अच्छा नहीं; मनुष्योंकी नपुंसकता अच्छी, पर पराई स्त्रीके साथ गमन अच्छा नहीं; मर जाना अच्छा, किन्तु धूर्तकी बातोंमें रुचि करना अच्छा नहीं; और भीख मांगना अच्छा, पर पराया धनसे सुस्वादु भोजनका सुख अच्छा नहीं ॥ १३७ ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १३८ ॥

सूनी गोशाला अच्छी, पर मरखना बैल अच्छा नहीं; वेश्या स्त्री अच्छी, परंतु कुलकी बहू व्यभिचारिणी अच्छी नहीं; वनमें रहना अच्छा, पर अविवेकी राजाके नगरमें रहना अच्छा नहीं; और प्राणोंको छोड़ देना अच्छा, पर दुर्जनोंका संग अच्छा नहीं ॥ १३८ ॥

अपि च,—

सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥ १३९ ॥

और भी—जैसे सेवा सब मानको, चांदनी अंधकारको, बुढापा खूबसूरतीको और विष्णु तथा महादेवकी कथा पापोंको हरती है वैसेही याचना सैकड़ों गुणोंको हर लेती है ॥ १३९ ॥

इति विमृश्य 'तत्किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि? कष्टं भोः, तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् ।

यह विचार कर कि मैं किस प्रकार पराये भोजनसे अपनेको पालूं? अहो, बड़े कष्टकी बात है वहभी दूसरा मृत्युका द्वार है ।

यतः,—

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं क्रयक्रीतं च मैथुनम् ।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥ १४० ॥

क्योंकि—थोड़ा पढ़ कर पण्डिताई, धन दे कर मैथुन, और पराये आसरेका भोजन, ये तीन बातें मनुष्यकी व्यर्थ हैं ॥ १४० ॥

अपरं च,—

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी ।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः' ॥ १४१ ॥

और रोगी, बहुत कालतक विदेशमें रहने वाला, दूसरेके आसरे भोजन करने वाला तथा दूसरेके घर सोने वाला इनका जीना मरणके, और मरण विश्रामके समान है ॥ १४१ ॥

इत्यालोच्यापि लोभात्पुनरप्यर्थं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

यह सोच करमी लोभसे फिर उसका धन लेनेकी हठ की ।

यथा चोक्तम्,—

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १४२ ॥

जैसा कहा है—लोभसे बुद्धि चलायमान हो जाती है, लोभही तृष्णाको बढ़ाता है, और तृष्णासे दुःखी हुआ मनुष्य इस लोक और परलोकमें कष्ट पाता है ॥ १४२ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्—

फिर उस वीणाकर्णने धीरे धीरे मुझ चलते हुएको एक सड़े बांसका टुकड़ा मारा, और मैं चिंता करने लगा—

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १४३ ॥

जिसको संतोष नहीं है उसको सब आपत्तियां ही हैं, क्योंकि वह धनका लोभी, अप्रसन्न, दुश्चित्ता और अजितेन्द्री हो जाता है ॥ १४३ ॥

तथा च,—

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १४४ ॥

और—जिसका मन संतुष्ट है उसको सब संपत्तियां हैं जैसे पैरमें जूता पहने हुयेको सब पृथ्वी चर्ममयी दीखती है ॥ १४४ ॥

अपरं च,—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ? ॥ १४५ ॥

और दूसरे—संतोषरूपी अमृतसे अघाये हुए शांतचित्त वालोंको जो सुख है, वह सुख इधर उधर फिरने वाले धनके लोभियोंको कहां रक्खा है ? ॥ १४५ ॥

किंच,—

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १४६ ॥

और—जिसने आशाको पीछे कर निराशाका सहारा लिया है, उसीने पढ़ा, उसीने सुना और उसीने सब कुछ कर लिया ॥ १४६ ॥

अपि च,—

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथाम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १४७ ॥

औरभी—जिसने धनवान्के द्वारकी सेवा नहीं की (याने श्रीमान्के पास कभी द्रव्ययाचना नहीं की), विरहके दुःखको नहीं देखा, और कभी दीन वचन मुखसे नहीं कहे, ऐसे किसी भी मनुष्यका जीना धन्य है ॥ १४७ ॥

यतः,—

न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया ।
संतुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १४८ ॥

क्योंकि—जिसको तृष्णाने घुमा रक्खा है उसे सौ योजनभी क्या दूर हैं ? और संतोषीके हाथमें धन आ जाने पर भी आदर नहीं होता है ॥ १४८ ॥

तदत्रावस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

इसलिये यहां दशाके उचित कार्यका निश्चय करना कल्याणकारी है ॥

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ॥ १४९ ॥

संसारमें प्राणियोंका धर्म क्या है कि जीवों पर दया करना, और सुख क्या है कि नीरोग रहना, स्नेह क्या है कि सत्कारपूर्वक मिलना, और पंडिताई क्या है कि उच्च नीच विचार कर काम करना ॥ १४९ ॥

तथा च,—

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः ।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे ॥ १५० ॥

और विपत्तियोंके आजाने पर, निर्णय करके काम करनाही चतुराई है, क्योंकि विना विचारे काम करने वालोंको पद पदमें विपत्तियां हैं ॥ १५० ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १५१ ॥

कुलकी मर्यादाके लिये एकको, गांवभरके लिये कुलको, देशके लिये गांवको और अपने लिये पृथ्वीको छोड़ देना चाहिये ॥ १५१ ॥

अपरं च,—

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं मा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः" ॥ १५२ ॥

और दूसरे—अनायास मिला हुआ जल और भयसे मिला मीठा भोजन उन दोनोंमें विचार कर देखता हूं तो जिसमें चित्त बेखटके रहे उसीमें सुख है अर्थात् पराधीन भोजनसे स्वाधीन जलका मिलना उत्तम है ॥ १५२ ॥

इत्यालोच्याहं निर्जनवनमागतः ।

यह विचार कर मैं निर्जन वनमें आया हूं ।

यतः,—

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पक्वफलाम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥ १५३ ॥

क्योंकि—सिंह और हाथियोंसे भरे हुए वनमें वृक्षके नीचे रहना, पके हुए कंद मूल फल खाकर जल पान करना तथा घासके बिछोनेपर सोना और छालके वस्त्र पहनना अच्छा है पर भाई बन्धुओंके बीचमें धनहीन जीना अच्छा नहीं है ॥ १५३ ॥

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्यानुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

फिर मेरे पुण्यके उदयसे इस मित्रने परम स्नेहसे मेरा आदर किया और अब पुण्यकी रीतिसे तुम्हारा आश्रय मुझे स्वर्गके समान मिल गया.

यतः,—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह' ॥ १५४ ॥

क्योंकि—संसाररूपी विषवृक्षके दो ही रसीले फल हैं; अर्थात् एक तो काव्यरूपी अमृतके रसका स्वाद और दूसरा सज्जनोंका संग' ॥ १५४ ॥

मन्थर उवाच—

'अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १५५ ॥

मंथर बोला-'धन तो चरणोंकी धूलिके समान है, यौवन पहाड़की नदीके वेगके समान है, आयु चंचल जलकी बिन्दुके समान चपल है और जीवन फेन (झाग) के समान है, इसलिये जो निर्बुद्धि स्वर्गकी आगलको खोलने वाले धर्मको नहीं करता है वह पीछे बुढ़ापेमें पछता कर शोककी अग्निसे जलाया जाता है ॥ १५५ ॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः। तस्यायं दोषः; शृणु,—

तुमने बहुतसा संचय किया था उसका यह दोष है ॥ सुनो,-

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५६ ॥

गंभीर सरोवरमें भरे हुए जलके चारों ओर निकलनेके (वारंवार जल निकाल देना जैसा सरोवरकी शुद्धिका कारण है, उसीके) समान कमाये हुए धनका सत्पात्रमें दान करना ही रक्षा है ॥ १५६ ॥

अन्यच्च,—

यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५७ ॥

और दूसरे—लोभी जिस धनको धरतीमें अधिक नीचे गाड़ता है वह धन पातालमें जानेके लिये पहलेसेही मार्ग कर लेता है ॥ १५७ ॥

अन्यच्च,—

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १५८ ॥

और जो मनुष्य अपने सुखको रोक कर धनसंचय करनेकी इच्छा करता है वह दूसरोंके लिये बोझ ढोने वाले(मजदूर)के समान क्लेशही भोगने वाला है १५८

अपरं च,—

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५९ ॥

और दूसरे—दान और उपभोगहीन धनसे जो धनी होते हैं तो क्या उसी धनसे हम धनी नहीं हैं ? अर्थात् अवश्य हैं ॥ १५९ ॥

अन्यच्च,—

न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १६० ॥

और जो मनुष्य धनको देवताके, ब्राह्मणके तथा भाईबन्धुके काममें नहीं लाता है उस कृपणका धन तो जल जाता है या चोर चुरा ले जाते हैं अथवा राजा छीन लेता है ॥ १६० ॥

अपि च,—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १६१ ॥

औरभी—दान, भोग और नाश धनकी तीन गति होती हैं; जो न देता है और न खाता है उसकी तीसरी गति होती है, अर्थात् नाश हो जाता है ॥१६१॥

असंभोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।
'अस्येदमिति' संबन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥ १६२ ॥

औरभी; विनाभोगे कृपणका धन दूसरे मनुष्योंके धनके समान है, परन्तु हानि होने पर, धनीके दुःखी होनेसे 'यह इसका धन है' ऐसा जाना जाता है ॥ १६२ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥ १६३ ॥

प्रिय वाणीके सहित दान, अहंकाररहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता, और दानयुक्त धन, ये चार बातें दुनियामें दुर्लभ हैं ॥ १६३ ॥

उक्तं च,—

'कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नातिसंचयः ।
पश्य संचयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः' ॥ १६४ ॥

और संचय नित्य करना चाहिये, परं अति संचय करना योग्य नहीं है । देखो, अधिक संचय करने वाला गीदड़ धनुषसे मारा गया ॥ १६४ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?' । मन्थरः कथयति—

वे दोनो बोले—'यह कथा कैसे है ?' मन्थर कहने लगा—

कथा ६

[शिकारी, मृग, शूकर और गीदड़की कहानी ६]

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतः संछिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात ।

कल्याणकटक बस्तीमें एक भैरव नाम व्याध (शिकारी) रहता था । वह एक दिन मृगको ढूंढ़ता ढूंढ़ता विंध्याचलकी ओर गया । फिर मारे हुए मृगको ले कर आते हुए उसने एक भयंकर शूकरको देखा । तब उस व्याधने मृगको भूमि पर रख कर शूकरको बाणसे मारा । शूकरनेभी भयंकर गर्जना करके उस व्याधके मुष्कदेशमें ऐसी टक्कर मारी कि, वह कटे हुए पेड़के समान जमीन पर गिर पड़ा ।

यतः,—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः ।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥ १६५ ॥

क्योंकि-जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, रोग और पहाड़से गिरना इसमेंसे किसी न किसी बहानेको पा कर प्राणी प्राणोंसे छूटता है ॥ १६५ ॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः। अथानन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसर्पशूकरानपश्यत्। अचिन्तयच्च—'अहो! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्।

उन दोनोंके पैरोंकी रगड़से एक सर्पभी मर गया। इसके पीछे आहारको चाहने वाले दीर्घराव नाम गीदडने घूमते २ उन मृग, व्याध, सर्प और शूकरको मरे पड़े हुए देखा और विचारा कि 'आहा! आज तो मेरे लिये बड़ा भोजन तयार है॥

अथवा,—

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते॥ १६६॥

अथवा—जैसे देहधारियोंको अनायास दुःख मिलते हैं वैसेही सुखभी मिलते हैं, परन्तु इसमें प्रारब्ध बलवान् है ऐसा मानता हूं॥ १६६॥

तद्भवतु। एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति।

जो कुछ हो, इनके मांसोंसे मेरे तीन महीने तो सुखसे कटेंगे।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः॥ १६७॥

एक महीनेको मनुष्य होगा, दो महिनेको हरिण और सूकर होंगे और एक दिनको सर्प होगा, और आज धनुषकी डोरी चाबनी चाहिये॥ १६७॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि।' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धनं उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"कर्तव्यः संचयो नित्यम्" इत्यादि।

फिर पहिली भूखमें यह स्वादरहित, धनुषमें लगा हुआ तांतका बन्धन खाऊं।' यह कह कर वैसा करने पर तांतके बंधनके टूटतेही उछटे हुए धनुषसे हृदय फट कर वह दीर्घराव मर गया। इसलिये मैं कहता हूं "संचय नित्य करना चाहिये" इत्यादि।

तथा च,—

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि॥ १६८॥

वैसा कहा भी है—जो कुछ दान करता है और खाता है वही धनीका धन है, नहीं तो दूसरे मनुष्य मरे हुए मनुष्यके धन तथा स्त्रियोंसे क्रीडा करते हैं ॥ १६८ ॥

किंच,—

यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने ।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥ १६९ ॥

और जो सुपात्रोंको देते हो और नित्य खाते (उपयोग करते) हो मैं उसीको तुम्हारा धन मानता हूं, और शेष तो दूसरेका है. तुम केवल रक्षा करते हो १६९

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन?

जाने दो, जो हो गया सो हो गया, उसके वर्णनसे क्या लाभ है ?

यतः,—

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ १७० ॥

क्योंकि—चतुर मनुष्य जो दुर्लभ वस्तु है उसे चाहते नहीं हैं. जो नष्ट हो गई, उसका सोच नहीं करते हैं, और आपत्तिकालमें मोह नहीं करते हैं ॥ १७० ॥

तत्सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् ।

इसलिये मित्र ! अब तुमको सदा आनन्दसे रहना चाहिये ।

यतः,—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १७१ ॥

क्योंकि—शास्त्र पढ़ कर भी मूर्ख होते हैं परन्तु जो क्रियामें चतुर है वही सच्चा पण्डित है. जैसे अच्छे प्रकारसे निर्णय की हुई औषधिभी रोगियोंको केवल नाममात्रसे अच्छा नहीं कर देती है ॥ १७१ ॥

अन्यच्च,—

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ? ॥ १७२ ॥

और दूसरे–शास्त्रकी विधि, उद्योग (पराक्रम) से डरे हुए मनुष्यको कुछ गुण (फायदा) नहीं करती है, जैसे इस संसार में हाथ पर धरा हुआभी दीपक अन्धेको वस्तु नहीं दिखाता है ॥ १७२ ॥

तदत्र सखे ! दशाविशेषे शान्तिः करणीया । एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम् ।

इसलिये हे मित्र ! इस शेष दशामें शान्ति करनी चाहिये । और इसेभी अधिक क्लेश तुमको नहीं मानना चाहिये ।

यतः,—

राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः ।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ॥ १७३ ॥

क्योंकि—राजा, कुलकी वधू, ब्राह्मण, मंत्री, स्तन, दंत, केश, नख और मनुष्य ये अपने स्थानसे अलग हुए शोभा नहीं देते हैं ॥ १७३ ॥

इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत् । कापुरुषवचनमेतत् ।

यह जान कर बुद्धिमानको अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिये । यह कायर पुरुषका वचन है ।

यतः,—

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १७४ ॥

क्योंकि—सिंह, सज्जन पुरुष, और हाथी, ये स्थानको छोड़ कर जाते हैं. और काक, कायर पुरुष और मृग, ये वहांही नाश होते हैं ॥ १७४ ॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्यात्मनः ॥ १७५ ॥

वीर और उद्योगी पुरुषोंको देश और विदेश क्या है ? अर्थात् जैसा देश वैसाही विदेश । वे तो जिस देशमें रहते हैं उसीको अपने बाहुके प्रतापसे जीत लेते हैं. जैसे सिंह जिस वनमें दांत, नख, पूंछसे प्रहार करता हुआ फिरता है उसी वनमें (अपने बलसे) मारे हुए हाथियोंके रुधिरसे अपनी प्यास बुझाता है ॥ १७५ ॥

अपरं च,—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १७६ ॥

और जैसे मैण्डक कूपके पासके पानीके गड्ढेमें और पक्षी भरे हुए सरोवरको आते हैं, वैसेही सब सम्पत्तियां परवश होकर (अपने आप) उद्योगी पुरुषके पास आती हैं ॥ १७६ ॥

अन्यच्च,—

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ १७७ ॥

और, आए हुए सुख तथा दुःखको भोगना चाहिये । क्योंकि सुख और दुःख पहियेकी तरह घूमते हैं (याने सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आते जाते हैं) ॥ १७७ ॥

अन्यच्च,—

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १७८ ॥

और दूसरे-उत्साही, तथा आलस्यहीन, कार्यकी रीतिको जानने वाला, द्यूतक्रीडा (जूआ) आदि व्यसनसे रहित, शूर, उपकारको मानने वाला और पक्की मित्रता वाला ऐसे पुरुषके पास रहनेके लिये लक्ष्मी आपही जाती है ॥ १७८ ॥

विशेषतश्च,—

विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ? ॥ १७९ ॥

और विशेष बात यह है कि-वीर पुरुष विनाही धनके सन्मानसे उच्च पदको पाता है, और कृपण धनयुक्त होनेसभी तिरस्कार किया जाता है. जैसे कुत्ता

सोनेकी माला पहन कर भी स्वभावसे प्रकाशमान, संपूर्ण गुणोंको प्रकट करने वाली सिंहकी कांतिको कैसे पा सकता है ? ॥ १७९ ॥

धनवानिति हि मदो मे किं गतविभवो विषादमुपयामि ? ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १८० ॥

'मैं धनवान् हूं' इस प्रकार मुझे घमण्ड क्यों हैं ? और निर्धन हो कर क्यों दुःख भोगता हूं ? निश्चयही मनुष्योंका ऊंचा नीचा होना तो हाथसे उछाली हुई गेंदके समान है ॥ ॥ १८० ॥

अपरं च,—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १८१ ॥

और दूसरे—बादलीकी छाया, नीचकी प्रीति, नया अन्न, स्त्रियां, यौवन तथा धन ये थोड़े दिनके भोगनेके लिये होते हैं ॥ १८१ ॥

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्नवतः स्तनौ ॥ १८२ ॥

आजीविकाके लिये बहुत उद्योग नहीं करना चाहिये, वह तो विधाताने निश्चय कर दिया है, क्योंकि प्राणीके गर्भसे निकलतेही माताके स्तनोंसे दूध निकलने लगता है ॥ १८२ ॥

अपि च सखे !,—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १८३ ॥

और भी हे मित्र ! जिसने हंसोंको सफेद, तोतोंको हरा और मोरोंको विचित्र बनाया है वही तेरी आजीविकाको देगा ॥ १८३ ॥

अपरं च,—सतां रहस्यं शृणु, मित्र !

और दूसरे–हे मित्र ! सज्जनोंका गुप्त मंत्र सुन;

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ? ॥ १८४ ॥

जो कमानेमें दुःख और आपत्तियोंमें संताप करते हैं, और अधिक बढ़नेसे मदांध (या कृतघ्न) कर देते हैं ऐसे धन कैसे सुखदायक हो सकते हैं ? ॥१८४॥

अपरं च,—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १८५ ॥

और धर्मके लिये जिसको धनकी इच्छा है, उसको धनकी लालसा न होना अच्छा है, क्योंकि कीचड़को (छू कर) धोनेसेभी, उसका दूरसे स्पर्श न करनाही अच्छा है ॥ १८५ ॥

यतः,—

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जैसे आकाशमें पक्षी, पृथ्वी पर सिंह आदि, और जलमें मगर आदि मांसको खाते हैं, वैसेही सर्वत्र धनवान् (जुवारी चोर इत्यादिका भोजन) है, अर्थात् ये उसे लूटते ठगते हैं ॥ १८६ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १८७ ॥

धनवानोंको राजा, जल, अग्नि, चोर, और अपने संबंधी जनोंसे, हमेशा ऐसा भय रहता है कि जैसा प्राणियोंको मृत्युसे ॥ १८७ ॥

तथा हि,—

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ? ।
इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ १८८ ॥

और (मनुष्यको) जन्म लेनेमेंही बहुत क्लेश है, इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि जिसमें इच्छाके अनुसार संपत्ति नहीं है और जिसमें इच्छा नहीं दूर होती है ॥ १८८ ॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १८९ ॥

और दूसरे—हे भाई ! सुनो-पहिले तो धनका मिलना कठिन और मिलभी जाय तो फिर उसकी रखवाली कष्टसे होती है । और मिले हुए धनका नाश मृत्युके समान है, इसलिये इस(धनलाभ)की चिन्ता न करनी चाहिये ॥ १८९॥

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ? ।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ॥ १९० ॥

और इस संसारमें तृष्णाको त्याग देनेसे कौन दरिद्री और कौन धनवान् है ? और जिसने उसको अवकाश दिया उसके ही शिर पर दासता बैठी है ॥ १९० ॥

अपरं च,—

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९१ ॥

और जब जिस वस्तुमें इच्छा होती है तब उसके लाभकी आशा होती है, और जब वह वस्तु किसी उपायसे मिल जाय तब इच्छा निवृत्त होती है ॥ १९१

किं बहुना पक्षपातेन ? मयैव सहात्र कालो नीयताम् ।

और मेरे अधिक पक्षपातसे क्या है ? मेरेही साथ यहां समय बिताओ;

यतः,—

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्' ॥ १९२ ॥

क्योंकि—महात्माओंका स्नेह मरने तक, क्रोध केवल क्षणमात्र और परित्याग केवल संगरहित होता है अर्थात् वे कुछ बुराई नहीं करते हैं ॥ १९२ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते-'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा श्लाघ्य-गुणोऽसि ।

यह सुन कर लघुपतनक बोला—'हे मन्थर ! तुम धन्य हो, और तुम प्रशंसनीय गुणवाले हो ।

यतः,—

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः ॥ १९३ ॥

क्योंकि—सज्जनही सज्जनोंकी आपत्तिको सर्वदा दूर करनेके योग्ये होते हैं । जैसे कीचडमें फँसे हुए हाथियोंके निकालनेके लिये हाथीही समर्थ होते हैं ॥ १९३ ॥

यतः,—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।

यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ १९४ ॥

पृथ्वी पर पुरुषोंमें वही एक प्रशंसा पानेके योग्य है, वही उत्तम सज्जन पुरुष है, और उसीको धन्य है कि जिसके पाससे याचक अथवा शरणागत लोक निराश और विमुख हो कर नहीं जाते हैं ॥ १९४ ॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुख निवसन्ति'।

तब वे इस प्रकार अपनी इच्छानुसार खाते-पीते खेलते-कूदते संतोष कर सुखसे रहने लगे ॥

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः। ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः, काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम्। पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः। मन्थरेणोक्तम्—भद्रम्, मृग! स्वागतम्। स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम्।' चित्राङ्गो ब्रूते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। भवद्भिः सह सख्यमिच्छामि।' हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह भवताऽयत्नेन मिलितम्।

फिर एक दिन चित्रांग नाम मृग किसीके डरके मारे उनसे आ कर मिला. इसके पीछे मृगको आता हुआ देख भयको सोच मन्थर तो पानीमें घुस गया. चूहा बिलमें चला गया और काकभी उड़ कर पेड़ पर जा बैठा। फिर लघुपतनकने दूरसे निर्णय किया कि, भयका कोईभी कारण नहीं है यह सोचा। पीछे उसके वचनसे आकर सब मिल कर वहांही बैठ गये। मन्थरने कहा-'कुशल हो! हे मृग! तुम्हारा आना अच्छा हुआ। अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि भोग करो अर्थात् खाओ, पीओ और यहां रह कर इस वनको सनाथ करो'। चित्रांग बोला-'व्याधके डरसे मैं तुम्हारी शरण आया हूं और तुम्हारे साथ मित्रता करनी चाहता हूं'। हिरण्यक बोला-'मित्रता तो हमारे साथ तुम्हारी अनायास हो गई है;

यतः,

औरसं कृतसंबन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १९५ ॥

क्योंकि-मित्र चार प्रकारके होते हैं; एक तो औरस अर्थात् जन्मसेही हो जैसे पुत्रादि, और दूसरे विवाहादि संवन्धसे हो गये हों और तीसरे कुल-परम्परा से आए हुए हों, और चौथे वे जो आपत्तियोंसे बचावें ॥ १९५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम्’ । तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायायामुपविष्टः । अथ मन्थरेणोक्तम्—‘सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति ?’ । मृगेणोक्तम्—‘अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते । प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते । तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्’ । तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—‘जलाशयान्तरं गच्छामि’ । काकमृगावप्युक्तवन्तौ—‘एवमस्तु’ । ततो हिरण्यको विहस्याह—‘जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् । स्थले गच्छतः कः प्रतीकारः ?

इसलिये यहां तुम अपने घरसेभी अधिक आनन्दसे रहो । यह सुन कर मृग प्रसन्न हो अपनी इच्छानुसार भोजन करके तथा जल पी कर जलके पास वृक्षकी छायामें बैठ गया ॥ मन्थरने कहा कि–‘हे मित्र मृग ! इस निर्जन वनमें तुम्हें किसने डराया है ? क्या कभी कभी व्याध आ जाते हैं ?’ । मृगने कहा–‘कलिंग देशमें रुक्मांगद नाम राजा है । और वह दिग्विजय करनेके लिये आ कर चन्द्रभागा नदीके तीर पर अपनी सेनाको टिका कर ठहरा है । और प्रातःकाल वह यहां आ कर कर्पूरसरोवरके पास ठहरेगा यह उड़ती हुई बात शिकारीयोंके मुखसे सुनी जाती है । इसलिये प्रातःकाल यहां रहनाभी भयका कारण है । यह सोच कर समयके अनुसार काम करना चाहिये’ । यह सुन कर कछुआ डर कर बोला–‘मैं तो दूसरे सरोवरको जाता हूं’ । काग और मृगनेभी कहा–‘ऐसाही हो अर्थात् चलो’ । फिर हिरण्यक हँस कर बोला–‘दूसरे सरोवरतक पहुंचने पर मंथर जीता बचेगा । परंतु इसके पटपड़में चलनेका कौनसा उपाय है ?

यतः,—

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां मन्त्री परं बलम्॥ १९६॥

क्योंकि–जलके जन्तुओंको जलका, गढ़में रहने वालोंको गढ़का, सिंहादि वनचरोंको अपनी भूमीका, और राजाओंको मंत्रीका, परम बल होता है॥ १९६॥

सखे लघुपतनक! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्,

हे सखे लघुपतनक! इस उपदेशसे वह गति होगी;

स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वाः पीडितं कुचकुड्मलम्।
वणिक्पुत्रोऽभवद्दुःखी त्वं तथैव भविष्यसि'॥ १९७॥

जैसे कि एक बनियेका पुत्र आपही अपनी स्त्रीके कमलकी कलीके समान कुच (राजाको) मसलते हुए देख कर दुःखी हुआ, वैसेही तुम भी होंगे'॥ १९७॥

ते ऊचुः—'कथमेतत्?'। हिरण्यकः कथयति—

वे दोनो पूछने लगे–'यह कथा कैसी है?'. हिरण्यक कहने लगा—

कथा ७

[राजकुमार, एक सुंदर युवति और उसके पतिकी कहानी ७]

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा। तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः। स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास। ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान्।

कान्यकुब्ज देशमें एक वीरसेन नामक राजा था। उसने वीरपुर नाम नगरमें तुंगबल नाम राजपुत्रको युवराज कर दिया था। उस बडे धनवान् तरुणने एक दिन नगरमें फिरते हुए एक नव-यौवनवती लावण्यवती नामक बनियेकी पुत्रवधूको देखा। फिर अपने राजभवनमें जा कर कामान्ध हो उसके लिये दूती भेजी.

यतः,—

सन्मार्गे तावदास्ते, प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

क्योंकि–पुरुष तभी तक अच्छे मार्गमें रहता है, तभी तक इन्द्रियोंको वशमें रखता है, तभी तक लज्जा रखता है, और तभी तक नम्रताका सहारा करता है, कि, जब तक सुन्दर सुन्दर स्त्रियोंको भौहरूपी धनुपसे खींच कर छोड़े गये और कानके मार्ग तक खींचे गये, धैर्यको तोड़ने वाले ये नीले पलकवाले नेत्र(कटाक्ष)-रूपी बाण हृदयमें नहीं लगते हैं ॥ १९८ ॥

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया तदेकचित्ताऽभवत् ।

उस लावण्यवतीनेभी जिस समयसे उसे देखा था उसी क्षणसे कामदेवके बाणोंके प्रहारसे जिसका हृदय छेद गया था ऐसी वह उसीके ध्यानमें मग्न हो गई ।

तथा ह्युक्तम्,—

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता ।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ १९९ ॥

जैसा कहा भी है—झूठ, साहस, छल, ईर्षा, अत्यन्त लोभ, निर्गुणता और अशुद्धता, ये दोष स्त्रियोंके स्वभावहीसे होते हैं ॥ १९९ ॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—'अहं पतिव्रता कथमेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्ते ?

फिर दूतीकी बात सुन कर लावण्यवती बोली–'मैं पतिव्रता हूं, पतिके अनादर (पातिव्रत्य-भंग) करने वाले इस अधर्ममें कैसे प्रवृत्त होऊं ?

यतः,—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ २०० ॥

क्योंकि–जो गृहस्थाश्रमके कार्यमें कुशल, पुत्रवती, पतिको प्राणोंके समान समझने वाली, तथा पतिव्रता है वह 'भार्या' कहलाती है ॥ २०० ॥

न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां संतुष्टाः सर्वदेवताः ॥ २०१ ॥

---

१ यह श्लोक दो पक्षमें लगता है अर्थात् धनुष और स्त्रीपक्षमें । धनुष और नदीकी, नीलपलक और नीले पंखकी, और नेत्र और बाणकी समता है.

जिससे पति संतुष्ट न हो वह भार्या नहीं कही जाती है, क्योंकि स्त्रियोंके पति संतुष्ट होनेसे सब देवताएँ संतुष्ट होती हैं ॥ २०१ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि ।' दूत्योक्तम्-'सत्यतममेतत् ।' लावण्यवत्युवाच-'ध्रुवं सत्यमेतत् ॥' ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गबलस्याग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽब्रवीत्—'विषमेषुणा व्रणितहृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि ?' । कुट्टन्याह—'स्वामिनानीय समर्पयितव्या' इति । स प्राह—'कथमेतच्छक्यम् ?' । कुट्टन्याह—'उपायः क्रियताम् ।

इसलिये जो जो मेरा पति मुझे आज्ञा देता है उसे बिना विचारे करती हूं. दूती बोली-'यह बात बहुत सची है ॥' लावण्यवतीने कहा-'वास्तवमें सची है ॥' फिर दूतीने जा कर यह सब समाचार तुंगबलके आगे रखे ॥ यह सुन कर तुंगबलने कहा-'तीक्ष्ण बाणसे टुकड़े टुकड़े हुए हृदय वाला मैं उसके बिना कैसे जीऊंगा ? दूतीने कहा-'उसका पति लाकर सौंप देगा.' उसने कहा-'यह कैसे हो सकता है ?' कुटनी बोली-'उपाय कीजिये;

तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना' ॥ २०२ ॥

जैसा कहा भी है—जो बात उपायसे हो सकती है वह पराक्रमसे नहीं हो सकती है, जैसे कीचड़के मार्गसे जाते हुए हाथीको सियारने मार डाला' ॥ २०२ ॥

राजपुत्रः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । सा कथयति—

राजपुत्र पूछने लगा-'यह कथा कैसी है ?' वह कहने लगी—

कथा ८

[धूर्त गीदड़ और कर्पूरतिलक हाथीकी कहानी ८]

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म—'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भविष्यति ।' तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साध-

यितव्यम् ।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु' । हस्ती ब्रूते-'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?' । सोऽवदत्—'जम्बुकोऽहम् । सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः । यद्विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तम्, तदात्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः ।

ब्रह्मवनमें कर्पूरतिलक नामक हाथी था । उसको देख कर सब गीदड़ोंने सोचा 'यदि यह किसी उपायसे मारा जाय तो उसकी देहसे हमारा चार महीनेका भोजन होगा ।' उनमेंसे एक बूढ़े गीदड़ने इस बातकी प्रतिज्ञा की-'मैं इसे बुद्धिके बलसे मार दूँगा' । फिर उस धूर्तने कर्पूरतिलक हाथीके पास जा कर साष्टांग प्रणाम करके कहा-'महाराज ! कृपादृष्टि कीजिये ।' हाथी बोला—'तू कौन है ? कहांसे आया है' ? वह बोला—'मैं गीदड़ हूं,' सब वनके रहने वाले पशुओंने पंचायत करके आपके पास भेजा है, कि बिना राजाके यहां रहना योग्य नहीं है इसलिये इस वनके राज्य पर राजाके सब गुणोंसे शोभायमान होने के कारण आपको ही राजतिलक करनेका निश्चय किया है.

यतः,—

> यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।
> धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ २०३ ॥

क्योंकि—जो कुलाचार और लोकाचारमें निपुण हो तथा प्रतापी, धर्मशील, और नीतिमें कुशल हो वह पृथ्वी पर राजा होनेके योग्य होता है ॥ २०३ ॥

अपरं च पश्य,—

> राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
> राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥२०४॥

और देखो—पहले राजाको ढूंढ़ना चाहिये, फिर स्त्री और उसके बाद धनको ढूंढे, क्योंकि राजाके नहीं होनेसे इस दुनियामें कहांसे स्त्री और कहांसे धन मिल सकता है ? ॥ २०४ ॥

अन्यच्च,—

> पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
> विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ २०५ ॥

और दूसरे–राजा प्राणियोंका मेघके समान जीवनका सहारा है और मेघके नहीं बरसनेसे तो लोक जीता रहता है, परन्तु राजाके न होनेसे जी नहीं सकता है ॥ २०५ ॥

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥ २०६ ॥

इस परवश (अर्थात् राजाके आधीन) इस संसारमें बहुधा दंडके भयसे लोग अपने नियत कार्योंमें लगे रहते हैं और नहीं तो अच्छे आचरणमें मनुष्योंका रहना कठिन है । क्योंकि दंडकेही भयसे कुलकी स्त्री दुबले, विकलांग (अर्थात् लंगड़े लूले) रोगी या निर्धनभी पतिको स्वीकार करती है ॥ २०६ ॥

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन' । इत्युक्त्वोत्थाय चलितः । ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः । ततस्तेन हस्तिनोक्तम्— 'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? पङ्के निपतितोऽहं म्रिये । परावृत्य पश्य' । शृगालेन विहस्योक्तम्-'देव ! मम पुच्छकावलम्बनं कृत्वोत्तिष्ठ । यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम् ।

इस लिये, लग्नकी घड़ी न टल जाय, आप शीघ्र पधारिये । यह कह उठ कर चला फिर वह कर्पूरतिलक राज्यके लोभमें फँस कर शृगालके पीछे पीछे दौड़ता हुआ गाड़ी कीचड़में फँस गया । फिर उस हाथीने कहा–'मित्र गीदड़ ! अब क्या करना चाहिये ? कीचड़में गिर कर मैं मरता हूं । लौट कर देख ।' गीदड़ने हंस कर कहा–'महाराज ! मेरी पूंछका सहारा पकड़ कर उठो, जैसा मुझ सरीखेकी बात पर विश्वास किया तैसा शरणरहित दुःख का अनुभव करो ।

तथा चोक्तम्,—

यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि ।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि' ॥ २०७ ॥

जैसा कहा है—जब बुरे संगसे बचोगे तब जानो जीओगे, और जो दुष्टोंकी संगतमें पड़ोगे तो मरोगे ॥ २०७ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि— "उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि । ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।

फिर बड़ी कीचड़में फँसे हुए हाथीको गीदड़ोंने खा लिया । इसलिये मैं कहता हूं–कि "उपायसे जो हो सकता है" इत्यादि. फिर उस राजपुत्रने कुटनीके उपदेशसे चारुदत्त नाम बनियेके पुत्रको सेवक बनाया । पीछे इसको उसने सब विश्वासके कार्योंमें नियुक्त कर दिया.

एकदा तेन राजपुत्रेण स्नातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्-'अद्यारभ्य मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम् । तदत्र प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतिमानीय समर्पय । सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या ।' ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतीमानीय समर्पयति । पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करोतीति निरूपयति । स च तुङ्गबलस्तां युवतिमस्पृशन्नेव दूरात्स्रग्वालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति । अथ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता । स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्य निमीलिताक्षः पर्यङ्के तया सह विललास । तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि—"स्वयं वीक्ष्य" इत्यादि । तथा त्वयापि भवितव्यम्' इति । तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः । तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति । ततः स्थले गच्छन्केनापि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः । प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा भ्रमन्क्लेशात्क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं चलितः । अथ मृगवायसमूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः ।

एक दिन कुट्टनीके उपदेशसे उस राजपुत्रने नहा धो कर और देहमें चन्दन आदि सुगन्ध द्रव्य लगा कर और सुवर्णके रत्नजटित आभूषणोंको पहन कर कहा–'चारुदत्त ! आजसे लेकर एक मास तक मुझे पार्वतीजीका व्रत करना है। इसलिये आजसे यहां नित्य रातको एक कुलीन जवान स्त्री मुझे ला दिया कर, मैं उसकी यथोचित रीतिसे पूजा करूंगा' ॥ फिर वह चारुदत्त वैसीही नवजवान स्त्री ला कर दिया करता था। और स्वयं छुप कर देखता रहता था, कि यह क्या करता है. और वह तुंगवल उस जवान स्त्रीको बिनाही छुए दूरसे वस्त्र, आभूषण, गन्ध चन्दनादिसे पूजा करके और रखवाला साथ दे कर विदा कर दिया करता था। फिर उस बनियेके पुत्रने यह देख विश्वाससे और चित्तमें लोभके मारे अपनी स्त्री लावण्यवतीको ला कर दे दिया। और उस तुंगवलने उसे प्राणप्यारी लावण्यवती जान कर शीघ्रतासे उठ गाढ़ा आलिंगन कर आनन्दसे नेत्रोंको कुछ बन्द-सा कर पलंग पर उसके साथ विलास किया। यह देख कर बनियेका बेटा चित्र लिखेके समान हो कर इस कार्यमें मूर्ख बन अधिक दुःखी हुआ। इसलिये मैं कहता हूं कि, "आप देख कर" इत्यादि। और तुम भी वैसेही दुःखी बनोगे।' उसके हितकारक बचनको न मान कर बड़े भयसे मूर्खकी भांति वह मन्थर उस सरोवरको छोड़ कर चला। वे हिरण्यक आदिभी स्नेहसे विपत्तिकी शंका करते हुए मन्थरके पीछे पीछे चले। फिर पटपड़में जाते हुए मन्थरको, वनमें घूमते हुए किसी व्याधने पाया। वह उसे पा कर और उठा कर धनुषमें बांध घूमता हुआ क्लेशसे उत्पन्न हुई क्षुधा और प्याससे व्याकुल, अपने घरकी ओर चला। पीछे मृग, काग और चूहा, ये बड़ा विचार करते हुए उसके पीछे पीछे चले.

तदो हिरण्यको विलपति—

> एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
> 　गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
> तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
> 　छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २०८ ॥

फिर हिरण्यक विलाप करने लगा—'समुद्रके पारके समान निःसीम एक दुःखके पार जब तक मैं नहीं जाता हूं तब तक मेरे लिये दूसरा दुःख आ कर उपस्थित हो जाता है, क्योंकि अनर्थ (आपत्ति) के साथ बहुत-से अनर्थ आ पड़ते हैं ॥ २०८ ॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २०९ ॥

स्वभावसे स्नेह करने वाला (अकृत्रिम) मित्र तो प्रारब्धसेही मिलता है कि जो सच्ची मित्रताको आपत्तियोंमेंभी नहीं छोड़ता है ॥ २०९ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे' ॥ २१० ॥

न मातामें, न स्त्रीमें, न सगे भाईमें, और न पुत्रमें ऐसा विश्वास होता है कि जैसा स्वाभाविक मित्रमें होता है ॥ २१० ॥

इति मुहुर्विचिन्त्य 'अहो दुर्दैवम् !

इसप्रकार वारंवार सोच कर (बोला)-'अहो दुर्भाग्य है !

यतः,—

स्वकर्मसंतानविचेष्टितानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ २११ ॥

क्योंकि—इस संसारमें अपने पापपुण्योंसे किये गये और समयके उलट-पलटसे बदलने वाले सुखदुःख, पूर्वजन्मके किये हुये पापपुण्यके फल मैंने यहांही देख लिये ॥ २११ ॥

अथवेत्थमेवैतत्,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ २१२ ॥

अथवा यह ऐसेही है-शरीरके पासही उसका नाश है और संपत्तियां आपत्तियोंका मुख्य स्थान हैं और संयोगके साथ वियोग है, अर्थात् अस्थिर है और उत्पन्न हुआ सब नाश होने वाला है ॥ २१२ ॥

पुनर्विमृश्याह—

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम् ॥ २१३ ॥

और विचार कर बोला-'शोक और शत्रुके भयसे बचाने वाला, तथा प्रीति और विश्वासका पात्र, यह दो अक्षरका 'मित्र' रूपी रत्न किसने रचा है ? ॥२१३॥

किं च,—

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्' ॥२१४॥

और अंजनके समान नेत्रोंको प्रसन्न करने वाला, चित्तको आनन्द देने वाला और मित्रके साथ सुखदुःखमें साथ देने वाला, अर्थात् दुःखमें दुःखी, सुखमें सुखी हो ऐसा मित्र होना दुर्लभ है, और संपत्ति (चलती)के समयमें धन हरने वाले मित्र हर जगह मिलते हैं, परन्तु विपत्कालही उनके परखनेकी कसौटी है' ॥२१४

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह–'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्।' तावूचतुः-'सत्वरं कार्यमुच्यताम्।' हिरण्यको ब्रूते-'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। संनिहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्।' चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथा-विधं मृगमपश्यत्। ततः कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। तत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश। स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमायाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्य-कारिणः।

इस प्रकार बहुत-सा विलाप करके हिरण्यकने चित्रांग और लघुपतनकसे कहा–'जब तक यह व्याध वनसे न निकल जाय तब तक मन्थरको छुडानेका यत्न करो।' वे दोनों बोले–'शीघ्र कार्यको कहिये।' हिरण्यक बोला–'चित्रांग जलके

किनारे मरेके समान अपना शरीर दिखावे और काक उस पर बैठके चोंचसे कुछ कुछ खोदें, यह व्याध कछुएको अवश्य वहां छोड़ कर मृगमांसके लोभसे शीघ्र जायगा। फिर मैं मन्थरके बंधन काट डालूंगा। और जब व्याध तुम्हारे पास आवे तब भाग जाना।' जब चित्रांग और लघुपतनकने शीघ्र जा कर वैसाही किया तो वह व्याध पानी पी कर एक पेड़के नीचे बैठा मृगको उस प्रकार देख पाया। फिर छुरी लेकर आनंदित होता हुआ मृगके पास जाने लगा इतनेहीमें हिरण्यकने आ कर कछुएका बंधन काट डाला। तब वह कछुआ शीघ्र सरोवरमें घुस गया। वह मृग उस व्याधको पास आता हुआ देख उठ कर भाग गया। जब व्याध लौट कर पेड़के नीचे आया, तब कछुएको न देख कर सोचने लगा—'मेरे समान विना विचार करने वालेके लिये यही उचित था।

यतः,—

> यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
> ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥ २१५ ॥

क्योंकि—जो निश्चितको छोड़ अनिश्चित पदार्थका आसरा करता है उसके निश्चित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, और अनिश्चितभी जाता रहता है' ॥ २१५ ॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयः सर्वे त्यक्तापदः स्वस्थानं गत्वा तथा सुखमास्थिताः ॥

फिर वह अपने प्रारब्धको दोष लगाता हुआ निराश होकर अपने घर गया। मंथर आदिभी सब आपत्तिसे निकल अपने अपने स्थान पर जा कर सुखसे रहने लगे।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्।' विष्णुशर्मोवाच-'एतावता भवतामभिलषितं संपन्नम्।

पीछे राजपुत्र प्रसन्न होकर कहने लगे-'हमने सब सुना और सुखी हुए हमारा कार्य सिद्ध हुआ।' विष्णुशर्मा बोले-'इतना आपका मनोरथ पूरा हुआ है ॥

अपरमपीदमस्तु—

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः' ॥२१६॥

इति हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः समाप्तः।

यह औरभी होय—सज्जन लोग मित्रको पावें, नगरनिवासी लक्ष्मीको पावें, राजा लोग सदा अपने धर्ममें रह कर पृथ्वीका रक्षण करें, आपकी नीति नवयौवना स्त्रीके समान पण्डितोंके चित्तको प्रसन्न करें और भगवान् महादेवजी आपका कल्याण करें ॥ २१६ ॥

पं० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रंथके मित्रलाभ नामक पहले अध्यायका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ. शुभम्.

हितोपदेशः

सुहृद्भेदः २

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः ।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत;

फिर राजपुत्र बोले-'गुरुजी ! मित्रलाभ तो हम सुन चुके, अब सुहृद्भेद सुनना चाहते हैं ।' विष्णुशर्मा बोले-'अब सुहृद्भेद सुनिये;

यस्यायमाद्यः श्लोकः—

वर्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

उसका पहला वाक्य यह है—वनमें सिंह और बैलका बड़ा स्नेह बढ़ गया था, उसे धूर्त और अति लोभी गीदड़ने छुड़वा दिया' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले-'यह कथा कैसे है ?' विष्णुशर्मा कहने लगे.

कथा १

[एक बनिया, बैल, सिंह और गीदड़ोंकी कहानी]

'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्धमानो नाम वणिक् निवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव ।

'दक्षिण दिशामें सुवर्णवती नाम नगरी है; उसमें वर्धमान नाम एक बनिया रहता था। उसके पास बहुत-सा धनभी था, परन्तु अपने दूसरे भाईबन्धुओंको अधिक धनवान् देख कर उसकी यह लालसा हुई की और अधिक धन इकठ्ठा करना चाहिये.

यतः,—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ? ।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति ॥ २ ॥

क्योंकि—अपनेसे नीचे नीचे (हीन) अर्थात् दरिद्रियोंको देख कर किसकी महिमा नहीं बढ़ती है ? अर्थात् सबको अभिमान बढ़ जाता है, और अपनेसे ऊपर ऊपर अर्थात् अधिक धनवानोंको देख कर सब लोग अपनेको दरिद्री समझते हैं ॥ २ ॥

अपरं च,—

ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

और दूसरे-जिसके पास बहुत-सा धन है उस ब्रह्मघातक मनुष्यकाभी सत्कार होता है और चन्द्रमाके समान अतिनिर्मल वंशमें उत्पन्न हुएभी निर्धन मनुष्यका अपमान किया जाता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च,—

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

और जैसे नवजवान स्त्री बूढ़े पतिको नहीं चाहती है वैसेही लक्ष्मीभी निरुद्योगी, आलसी, 'प्रारब्धमें जो लिखा है सो होगा' ऐसा भरोसा रख कर चुपचाप बैठने वाले, तथा पुरुषार्थ हीन मनुष्यको नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

अपि च,—

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
संतोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

औरभी आलस्य, स्त्रीकी सेवा, रोगी रहना, जन्मभूमिका स्नेह, संतोष और डरपोकपन ये छः बातें उन्नतिके लिये बाधक है ॥ ५ ॥

यतः,—

संपदा सुस्थितंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

क्योंकि-जो मनुष्य थोड़ीही संपत्तिसे अपनेको सुखी मानता है, विधाता समाप्तकार्य मान कर उस मनुष्यकी उस संपत्तिको नहीं बढ़ाता है ॥ ६ ॥

अपरं च,—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

और निरुत्साही, आनन्दरहित, पराक्रमहीन तथा शत्रुको प्रसन्न करने वाले ऐसे पुत्रको कोई स्त्री न जने अर्थात् ऐसे पुत्रका जन्म न होनाही अच्छा है ॥७॥

तथा चोक्तम्,—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्धयेत् सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

जैसा कहा है—नहीं पाये धनके पानेकी इच्छा करना, पाये हुए धनकी चोरी आदि नाशसे रक्षा करना, रक्षा किये हुए धनको व्यापार आदिसे बढ़ाना और अच्छी तरह बढ़ाए धनको सत्पात्रमें दान करना चाहिये ॥ ८ ॥

यतो लब्धुमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च, अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।

क्योंकि लाभकी इच्छा करने वालेको धन मिलताही है, एवं प्राप्त हुए परंतु रक्षा नहीं किये गये खजानेकाभी अपने आप नाश हो जाता है, औरभी यह है कि-बढ़ाया नहीं गया धन कुछ कालमें थोड़ा थोड़ा व्यय हो कर काजलके समान नाश हो जाता है, और नहीं भोगा गया भी खजाना वृथा है ।

तथा चोक्तम्,—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

जैसा कहा है—उस धनसे क्या है? जो न देता है और न खाता (उपभोग करता) है; उस बलसे क्या है? जो वैरियोंको नहीं सताता है, उस शास्त्रसे क्या है? जो धर्मका आचरण नहीं करता है; और उस आत्मासे क्या है? जो जितेंद्रिय नहीं है ॥ ९ ॥

यतः,—

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

क्योंकि—जैसे जलकी एक एक बूंदके गिरनेसे धीरे २ घड़ा भर जाता है वही कारण सब प्रकारकी विद्याओंका, धनका और धर्मकाभी है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ ११ ॥

दान और भोगके विना जिसके दिन जाते हैं वह लुहारकी धोंकनीके समान सांस लेता हुआभी मरेके समान है ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः कश्मीरं प्रति।

यह सोच कर नन्दक और संजीवक नाम दो बैलोंको जुएमें जोत कर और छकड़ेको नाना प्रकारकी वस्तुओंसे लाद कर व्यापारके लिये काश्मीरकी ओर गया।

अन्यच्च,—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

और दूसरे—काजलके कम कमसे घटनेको और वल्मीक नाम चींटीके संचयको देख कर, दान, पढ़ना और कामधंधामें दिनको सफल करना चाहिये ॥१२॥

यतः,—

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्?।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्? ॥ १३ ॥

क्योंकि—बलवानोंको अधिक बोझ क्या है? और उद्योग करने वालोंको क्या दूर है? और विद्यावानोंको विदेश क्या है? और मीठे बोलने वालोंका शत्रु कौन है? ॥ १३ ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये संजीवको भग्नजानुर्निपतितः।

फिर उस जाते हुएका, सुदुर्ग नाम घने वनमें, संजीवक घुटना टूटनेसे गिर पड़ा।

तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

उसे देख कर वर्धमान चिंता करने लगा—'नीति जानने वाला इधर उधर भले ही व्यापार करे, परंतु उसको लाभ उतना ही होता है कि जितना विधाताके जीमें है ॥ १४ ॥

किंतु,—

विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्' ॥ १५ ॥

परंतु—सब कार्योंको रोकने वाले संशयको छोड देना चाहिये, एवं संदेहको छोड कर, अपना कार्य सिद्ध करना चाहिये' ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः । ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भारं कृत्वोत्थितः ।

यह विचार कर संजीवकको वहां छोड कर–फिर वर्धमान आप धर्मपुर नाम नगरमें जा कर एक दूसरे बडे शरीर वाले बैलको ला कर जुएमें जोत कर चल दिया । फिर संजीवकभी बडे कष्टसे तीन खुरोंके सहारे उठ कर खडा हुआ ।

यतः,—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

क्योंकि—समुद्रमें डूबे हुएकी, पर्वतसे गिरे हुएकी और तक्षक नाम सर्पसे डसे हुएकी आयुकी प्रबलता मर्म (जीवनस्थान)की रक्षा करती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

जो काल न होय तो सैंकडों बाणोंके विंधनेसेभी प्राणी नहीं मरता है और जो काल आ जाय तो केवल कुशाकी नोंकसे छूतेही मर जाता है ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८ ॥

दैवसे रक्षा किया हुआ, विना रक्षाके भी ठहरता (बच जाता) है, और अच्छी तरह रक्षा किया हुआ भी, दैवका मारा हुआ नहीं बचता है, जैसे वनमें छोड़ा हुआ सहायहीनभी जीता रहता है, घर पर कई उपाय करनेसेभी नहीं जीता है ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारविहारं कृत्वारण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति।

फिर कितनेही दिनोंके बाद संजीवक अपनी इच्छानुसार खाता पीता वनमें फिरता फिरता हृष्ट पुष्ट हो कर ऊंचे स्वरसे डकराने लगा; उसी वनमें पिंगलक नाम एक सिंह अपनी भुजाओं (स्वबल)से पाये हुए राज्यके सुखका भोग करता हुआ रहता था.

तथा चोक्तम्—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

जैसा कहा है–मृगोंने सिंहका न तो राज्यतिलक किया और न संस्कार किया परंतु सिंह अपने आपही पराक्रमसे राज्यको पा कर मृगोंका राजा होना दिखलाता है ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा स चकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक! किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमव-

तिष्ठते?'। करटको ब्रूते—'मित्र दमनक! अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्? यतोऽनेन राज्ञा विनाऽपराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

और वह एक दिन प्याससे व्याकुल होकर पानी पीनेके लिये यमुनाके किनारे पर गया। और वहां उस सिंहने नवीन ऋतुकालके मेघकी गर्जनाके समान संजीवकका डकराना सुना। यह सुन कर पानीके बिना पिये वह घबराया-सा लौट कर अपने स्थान पर आ कर 'यह क्या है?' यह सोचता हुआ चुपसा बैठ गया। और उसके मंत्रीके बेटे दमनक और करटक दो गीदड़ोंने उसे वैसा बैठा देखा। उसको इस दशामें देख कर दमनकने करटकसे कहा—'भाई करटक! यह क्या बात है कि, प्यासा स्वामी पानीको बिना पिये डरसे धीरे धीरे आ बैठा है?' करटक बोला—'भाई दमनक! हमारी समझसे तो इसकी सेवाही नहीं की जाती है। जो ऐसे बैठा भी है तो हमें स्वामीकी चेष्टाका निर्णय करनेसे क्या प्रयोजन है? क्योंकि इस राजासे विना अपराध बहुत काल तक तिरस्कार किये गये हम दोनोंने बड़ा दुःख सहा है॥

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्॥ २०॥

सेवासे धनको चाहने वाले सेवकोंने जो किया सो देख कि शरीरकी स्वतंत्रताभी मूर्खोंने हार दी है॥ २०॥

अपरं च,—

शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान्पराश्रिताः।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्॥ २१॥

और दूसरे—जो पराधीन हो कर जाड़ा, हवा और धूपमें दुःखोंको सहते हैं उस दुःखके छोटेसे छोटे भागसे तप (स्वल्पही दुःख सहन) करके बुद्धिमान सुखी हो सकता है॥ २१॥

अन्यच्च,—

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः॥ २२॥

और-स्वाधीनताका होनाही जन्मकी सफलता है, और जो पराधीन होने परभी जीते (कहलाते) हैं तो मरे कौनसे हैं ? अर्थात् वेही मरेके समान हैं जो पराधीन हो कर रहते हैं ॥ २२ ॥

अपरं च,—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

और दूसरे-धनवान् पुरुष, आशारूपी ग्रहसे भरमाये गये हुए याचकोंके साथ, 'इधर आ, चला जा, बैठ जा, खड़ा हो, बोल, चुपसा रह' इस तरह खेल किया करते हैं ॥ २३ ॥

किं च,—

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

और जैसे वेश्या दूसरोंके लिये सिंगार करती है वैसेही मूर्खोंनेभी धनके लाभके लिये अपनी आत्माको संस्कार करके हृष्ट पुष्ट बनवा कर पराये उपकारके लिये कर रक्खी है ॥ २४ ॥

किंच,—

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

और जो दृष्टि स्वभावहीसे चपल है और मल, मूत्र आदि नीची वस्तुओं परभी गिरती है ऐसी स्वामीकी दृष्टिका सेवकलोग बहुत गौरव करते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च,—

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

और चुपचाप रहनेसे मूर्ख, बहुत बातें करनेमें चतुर होनेसे उन्मत्त अथवा बातून, क्षमाशील होनेसे डरपोक, न सहन सकनेसे नीतिरहित (अकुलीन), सर्वदा पास रहनेसे ढीठ, और दूर रहनेसे घमंडी कहलाता है. इसलिये सेवाका धर्म बड़ा रहस्यमय है (सब क्लेश सहन करनेवाले) योगियोंसेभी पहचाना नहीं जा सका है ॥ २६ ॥

विशेषतश्च,—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः, को मूढः सेवकादन्यः ? ॥ २७ ॥

और विशेष बात यह है कि—जो उन्नतिके लिये झुकता है, जीनेके लिये प्राणका भी त्याग करता है, और सुखके लिये दुःखी होता है, ऐसा सेवकको छोड़ और कौन भला मूर्ख हो सकता है ?' ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र ! सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् । यतः,—

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

दमनक बोला–'मित्र ! कभी यह बात मनसेभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि स्वामियोंकी सेवा यत्नसे क्यों नहीं करनी चाहिये, जो सेवासे प्रसन्न हो कर शीघ्र (सेवकके) मनोरथ पूरे कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य,—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी' ॥ २९ ॥

और दूसरे देखो—स्वामीकी सेवा नहीं करने वालोंको चमरके डुलावसे युक्त ऐश्वर्य तथा ऊंचे दंड वाले श्वेत छत्र और घोड़े हाथियोंकी सेना कहां धरी है ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते—'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण ? यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः ।

करटक बोला–'तोभी हमको इस कामसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि अयोग्य कामोंमें व्यापार (अनधिकृत चेष्टा) करना सर्वथा त्यागनेके योग्य है ॥

पश्य,—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः' ॥ ३० ॥

देख–जो मनुष्य नहीं करनेके कामोंमें (पड़ना) व्यापार करना चाहता है वह कीलके उखाड़ने वाले बंदरकी तरह धरती पर मृत्युशायी होता है ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—कथमेतत् ?' । करटकः कथयति—

दमनक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' तब करटक कहने लगा ।—

कथा २

[अनधिकृत चेष्टा करने वाले बंदरकी कहानी २]

'अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः। एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"अव्यापारेषु व्यापारम्" इत्यादि'॥ दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम्।'—करटको ब्रूते—'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या।

'मगध देशमें धर्मारण्यके पास किसी प्रदेशमें शुभदत नामक कायस्थने एक मन्दिर बनवाना आरंभ किया। वहां आरेसे चीरा हुआ लठ्ठा जो कितनीही दूर तक फट रहा था; उस काटके दोनों भागोंके बीचमें बढ़ईने कील ठोक दी थी। वहां बलवान् बन्दरोंका झुंड खेलता हुआ आया। एक बन्दर मृत्युसे प्रेरित हुएके समान उस लकड़ीकी खूंटीको दोनों हाथोंसे पकड़ कर बैठ गया। वहां उसके लटकते हुए दोनों अंडकोश, उस काटके दोनों भागोंकी संदमें लटक पड़े और फिर उसने स्वभावकी चंचलतासे बडे बड़े उपाय करके खूंटीको खींच लिया, और खूंटीको खींचतेही उसके दोनों अंडकोश पिचले जाने पर वह मर गया॥ इसलिये मैं कहता हूं-"बिना कामके कामोंमें पड़ना" इत्यादि'॥ दमनकने कहा-'तोभी सेवकको स्वामीके कामका विचार अवश्य करना चाहिये॥' करटक बोला—'जो सब काम पर अधिकारी प्रधान मंत्री हो वही करे। क्योंकि सेवकको पराये कामकी चर्चा कभी नहीं करनी चाहिये॥

पश्य,—

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात् स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति चीत्काराद्गर्दभस्ताडितो यथा॥ ३२॥

देख,— [illegible]
रेंकनेसे मारे गये गधेकी तरह मारा जाता है ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । करटको ब्रूते—

दमनक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' करटक कहने लगा ।—

कथा ३

[धोबी, धोबन, गधा और कुत्तेकी कहानी ३]

'अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स चाभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति, कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति । अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे ! भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि ?' कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र ! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि । यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः । यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति।'

'बनारसमें एक कर्पूरपटक नामक धोबी रहता था। वह नवजवान अपनी स्त्रीके साथ बहुत काल तक विलास करके, और अत्यन्त छातीसे चिपटा कर सो गया। इसके बाद उसके घरके द्रव्यको चुरानेके लिये चोर अंदर घुसा। उसके आंगनमें एक गधा बंधा था और एक कुत्ता भी बैठा था। इतनेमें गधेने कुत्तेसे कहा—'मित्र ! यह तेरा काम है, इसलिये क्यों नहीं ऊंचे शब्दसे भोंक कर स्वामीको जगाता है ?' कुत्ता बोला—'भाई ! मेरे कामकी चर्चा तुझे नहीं करनी चाहिये, और क्या तू सचमुच नहीं जानता है कि जिसप्रकार मैं उनके घरकी रखवाली रातदिन करता हूं, पर वैसा वह बहुत कालसे निश्चित होकर मेरे उपयोगको नहीं मानता है; इसलिये आजकल वह मेरे आहार देनेमें भी आदर (फिक्र) कम करता है। क्योंकि विना आपत्तिके देखें स्वामी सेवकों पर थोड़ा आदर करते हैं।

गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे बर्बर !

याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत्।'

गधा बोला—'सुन रे मूर्ख ! जो कामके समय पर माँगे वह निन्दित सेवक और निन्दित मित्र है.'

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले स किंप्रभुः ॥ ३२ ॥

कुत्ता बोला–'जो काम अटकने पर सेवकोंसे (केवल अपने स्वार्थके खातर) मीठी मीठी बातें करे वह तो निन्दित स्वामी है ॥ ३२ ॥

यतः,—

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥ ३३ ॥

क्योंकि आश्रितोंके पालन–पोषणमें, स्वामीकी सेवामें, धर्मकी सेवा (आचरण) करनेमें, और पुत्रके उत्पन्न करनेमें, प्रतिनिधि (एवजी) नहीं होते हैं अर्थात् ये काम अपने आपही करनेके हैं, दूसरेसे करानेके योग्य नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते ! पापीयांस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्य उपेक्षां करोषि। भवतु तावत्, यथा स्वामी जागरिष्यति तन्मया कर्तव्यम्।

फिर गधा झुंझला कर बोला–'अरे दुष्टबुद्धि ! तू बड़ा पापी है, कि विपत्तिमें स्वामीके कामकी अवहेलना करता है। ठीक, जिस किसी भी प्रकार से स्वामी जग जावे ऐसा मैं तो अवश्य करूँगा ॥

यतः,—

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया' ॥ ३४ ॥

क्योंकि—पीठके बल धूप खाय, पेटके बल अग्निसे तापे, स्वामीकी सब प्रकारसे (वफादारीसे) और परलोककी बिना कपटसे सेवा करनी चाहिये ॥३४॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—"पराधि-

कार्यचर्चाम्" इत्यादि ॥ पश्य पशूनामन्वेषणमस्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य) किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति।' दमनकः सकोपमाह—'कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते? एतदयुक्तमुक्तं त्वया।

यह कह कर उसने अत्यंत रेंकनेका शब्द किया। तब वह धोबी उसके चिल्लानेसे जाग उठा और नींद टूटनेके क्रोधके मारे उठ कर लकड़ीसे गधेको मारा कि जिससे वह मर गया। इसलिये मैं कहता हूं—"पराये अधिकारकी चर्चाको" इत्यादि ॥ देख–पशुओंका ढूंढना हमारा काम है ॥ अपने कामकी चर्चा करो। (सोच कर) परन्तु आज उस चर्चासे कुछ प्रयोजन नहीं ॥ क्योंकि अपने दोनोंके भोजनसे बचा हुआ आहार बहुत धरा है।' दमनक क्रोधसे बोला–'क्या तुम केवल भोजनकेही अर्थी हो कर राजाकी सेवा करते हो? यह तुमने अयोग्य कहा।

यतः,—

सुहृदामुपकारकारणा-
द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

क्योंकि-मित्रोंके उपकारके लिये, और शत्रुओंके अपकारके लिये चतुर मनुष्य राजाका आश्रय करते हैं (याने अपने मित्र या आप्तके हितके लिये और शत्रुके नाशके लियेही राजाश्रय किया जाता है) और केवल पेट कौन नहीं भर लेता है? अर्थात् सभी भरते हैं ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति? ॥ ३६ ॥

जिसके जीनेसे ब्राह्मण, मित्र और भाई जीते हैं उसीका जीवन सफल है और केवल अपने (स्वार्थके) लिये कौन नहीं जीता है? ॥ ३६ ॥

अपि च,—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्? ॥ ३७ ॥

औरभी-जिसके जीनेसे बहुतसे लोग जिये वह तो सचमुच जिया, और यों तो काकभी क्या चोंचसे अपना पेट नहीं भर लेता है? ॥ ३७ ॥

पश्य,—

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३८ ॥

देख-कोई मनुष्य पांच पुराण[1] में दासपनेको करने लगता है, कोई लाख में करता है और कोई एक लाखमेंभी नहीं मिलता है ॥ ३८ ॥

अन्यच्च,—

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम्।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते? ॥ ३९ ॥

और दूसरे-मनुष्योंकी समान जातिमें सेवकाई काम करना अति निन्दित है और सेवकोंमेंभी जो प्रथम अर्थात् सबका मुखिया नहीं है क्या वह जीते हुओंमें गिना जा सकता है? अर्थात् उसका जीना और मरना समान है ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्,—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ४० ॥

जैसा कहा है-घोडा, हाथी, लोहा, काष्ठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल इस प्रत्येकमें बडा अन्तर है ॥ ४० ॥

तथा हि, स्वल्पमप्यतिरिच्यते।

और उसी प्रकार-थोडा बहुतभी गिना जाता है.

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं,
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥ ४१ ॥

कुत्ता थोडी नस तथा चर्बीसे मलिन बिना मांसकी हड्डीको पा कर उसीमें संतोष कर लेता है, कुछ उससे उसकी भूख दूर नहीं होती है; और सिंह गोदमें आये हुए सियारको भी छोड कर हाथीको मारता है इसलिये सब प्राणी क्लेशको सह कर भी अपने पराक्रमके अनुसार फलकी इच्छा करते हैं ॥ ४१ ॥

---

१ पुराण=८० कौडी याने एक पैसा; ६४ कौडीका एक पैसा माना जाता है.

अपरं च, सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य,—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

और दूसरे–स्वामी और सेवकका भेद देखो–कुत्ता, टुकड़ा देने वालोंके सामने पूछको हिलाता है, उसके चरणोंमें गिरता है, धरती पर लेट कर अपना मुख और पेट दिखाया करता है, परन्तु श्रेष्ठ हाथी तो स्वामीको धीरजसे देखता है, और सौ सौ उपाय करनेसे खाता है ॥ ४२ ॥

किंच,—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

और शास्त्रज्ञान, पराक्रम, तथा यशसे विख्यात होकर जो मनुष्य क्षणभर भी जीते हैं, उसी जीनेको इस दुनियामें पण्डित लोग सफल कहते हैं, और यों तो काकभी बहुत दिन तक जीता है और खुराक खाता है ॥ ४३ ॥

अपरं च,—

यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

और दूसरा—जो न पुत्र पर, न गुरु पर, न सेवकों पर, और न दीन बांधवों पर दया करता है उसके जीनेके फलसे मनुष्यलोकमें क्या है, और यों तो काकभी बहुत काल तक जीता है और बलि खाता है अर्थात् केवल पेट भरनाही जीवनका फल नहीं है ॥ ४४ ॥

अपरमपि,—

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः?' ॥ ४५ ॥

औरभी-हित और अहितके विचार करनेमें जडमति वाला, और शास्त्रके ज्ञानसे रहित होकर जिसकी इच्छा केवल पेट भरनेकी ही रहती है, ऐसा पुरुषरूपी पशु और सचमुच पशुमें कौनसा अन्तर समझा जा सकता है? अर्थात् ज्ञानहीन एवं केवल भोजनकी इच्छा रखने वालेसे घास खाकर जीने वाला पशु अच्छा है ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ। तदस्यावयोः किमनया विचारणया?'। दमनको ब्रूते—'कियता कालेनामात्याः प्रधानतामप्रधानतां वा लभन्ते।

करटक बोला-'हम दोनों मंत्री नहीं हैं फिर हमें इस विचारसे क्या?' दमनक बोला—'कुछ कालमें मंत्री प्रधानता वा अप्रधानताको पाते हैं।

यतः,—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

क्योंकि—इस दुनियामें कोई किसीका स्वभावसे अर्थात् जन्मसे सुशील अथवा दुष्ट नहीं होता है; परन्तु मनुष्यको अपने कर्मही बडपनको अथवा नीचपनको पहुंचाते हैं ॥ ४६ ॥

किंच,—

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

और जैसे पर्वत पर बड़े यत्नसे पाषाणकी शिला चढ़ाई जाती है और छिनभरमें ढुलका दी जाती है वैसेही मनुष्यके चित्तकी वृत्तिभी गुण और दोषमें लगाई और हटा ली जाती है अर्थात् मनुष्यकी उन्नति कठिनतासे और अवनति सहजमें हो सकती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपनेही कर्मोंसे कुएके खोदने वालेके समान नीचे और राजभवनके बनाने वालेके समान ऊपर जाता है; अर्थात् मनुष्य अपना उच्च (अच्छे) कर्मोंसे उन्नतिको और हीन (खराब) कर्मोंसे अवनतिको पाता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटको ब्रूते—'अथ भवान्किं ब्रवीति ?' । स आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकितः परिवृत्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते—'किं तत्त्वं जानासि ?' । दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति ?

इसलिये यह ठीक है कि सबकी आत्मा अपनेही यत्नके आधीन रहती है ।' करटक बोला–'तुम अब क्या कहते हो ?' वह बोला–'यह स्वामी पिंगलक किसी न किसी कारणसे घबराया-सा लौट करके आ बैठा है ।' करटकने कहा–'क्या तुम इसका भेद जानते हो ?' दमनक बोला–'इसमें नहीं जाननेकी क्या बात है ?

उक्तं च,—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

और कहा है—जताए हुए अभिप्रायको पशुभी समझ लेता है और हांके हुए घोड़े और हाथीभी बोझा ढोते हैं । पण्डित कहे विनाही मनकी बात तर्कसे जान लेता है; क्योंकि पराये चित्तका भेद जान लेनाही बुद्धियोंका फल है ॥ ४९ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

आकारसे, हृदयके भावसे, चालसे, कामसे, बोलनेसे और नेत्र और मुंहके विकारसे, औरोंके मनकी बात जान ली जाती है ॥ ५० ॥

अथ भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि ।

इस भयके सुझावमें बुद्धिके बलसे मैं इस स्वामीको अपना कर लूंगा ॥

यतः,—

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५१ ॥

क्योंकि—जो प्रसंगके समान वचनको, स्नेहके सदृश मित्रको और अपनी सामर्थ्यके सदृश क्रोधको समझता है वह बुद्धिमान् है' ॥ ५१ ॥

करटको ब्रूते—'सखे ! त्वं सेवानभिज्ञः ।

करटक बोला—'मित्र ! तुम सेवा करना नहीं जानते हो ।

पश्य,—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥

देखो—जो मनुष्य विना बुलाये घुसे, और विना पूछे बहुत बोलता है, और अपनेको राजाका प्रिय मित्र समझता है वह मूर्ख है' ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र ! कथमहं सेवानभिज्ञः ?

दमनक बोला—'भाई ! मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता हूं ?

पश्य,—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

देखो—कोई वस्तु स्वभावसे अच्छी और बुरी होती है, जो जिसको रुचती है वही उसको सुन्दर लगती है ॥ ५३ ॥

यतः,—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

क्योंकि-बुद्धिमान्को चाहिये कि जिस मनुष्यका जैसा मनोरथ होय उसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर एवं उस पुरुषके पेटमें घुस कर उसे अपने वशमें कर ले ॥ ५४ ॥

अन्यच्च,—

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

और इसके यहां कौन है ? मैं हूं, मुझ पर आज्ञा कीजिये ऐसा कहना चाहिये और जहां तक हो सके राजाकी आज्ञाको सफल करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

अपरं च,—

अल्पेच्छुर्धृतिमान् प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत्' ॥ ५६ ॥

और थोड़ा चाहने वाला, धैर्यवान्, पण्डित तथा सदा छायाके समान पीछे चलने वाला और जो आज्ञा पाने पर सोच विचार न करे, अर्थात् यथार्थरूपसे आज्ञाका पालन करे ऐसा मनुष्य राजाके घरमें रहना चाहिये' ॥ ५६ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी'। स आह—'अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम् ।

करटक बोला–'जो कभी कुसमय पर घुस जानेसे स्वामी तुम्हारा अनादर करे' ॥ वह बोला–'ऐसा हो तो भी सेवकको स्वामीके पास अवश्य जाना चाहिये ।

यतः,—

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते ? ॥ ५७ ॥

क्योंकि—दोषके डरसे किसी कामका आरंभ न करना यह कायर पुरुषका चिन्ह है; हे भाई ! अजीर्णके डरसे कौन भोजनको छोड़ते हैं ? ॥ ५७ ॥

पश्य,—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति' ॥ ५८ ॥

देखो–पास रहने वाला कैसाही विद्याहीन, कुलहीन तथा विसंगत मनुष्य क्यों न हो राजा उसीसे हित करने लगता है, क्योंकि राजा, स्त्री और बेल ये बहुधा जो अपने पास रहता है, उसीका आश्रय कर लेते हैं' ॥ ५८ ॥

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्?' स आह—'शृणु। किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि'।

करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम्?'।

करटक बोला—'वहां जा कर क्या कहोगे?' वह बोला—'सुनो। पहिले यह जानूंगा कि स्वामी मेरे उपर प्रसन्न है अथवा उदास है'. करटक बोला—'इस बातको जाननेका क्या चिन्ह है?'

दमनको ब्रूते—'शृणु,—

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम्।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

दमनक बोला—'सुनो,—दूरसे बड़ी अभिलाषासे देख लेना, मुसकाना, समाचार आदि पूछनेमें अधिक आदर करना, पीठ पीछेभी गुणोंकी बड़ाई करना, प्रिय वस्तुओंमें स्मरण रखना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम्।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

जो सेवक न हो उसमेंभी स्नेह दिखाना, सुन्दर सुन्दर बचनोंके साथ धन आदिका देना और दोषमेंभी गुणोंका ग्रहण करना ये स्नेहयुक्त स्वामिके लक्षण हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

और दूसरे—आज कल कह करके, कृपा आदिके करनेमें समय टालना तथा आशाओंका बढ़ाना और जब फलका समय आवे तब उसका खंडन करना ये उदास स्वामीके लक्षण मनुष्यको जानना चाहिये ॥ ६१ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि।

यह जान कर जैसे यह मेरे बशमें हो जायगा वैसे करूंगा;

यतः,—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति' ॥ ६२ ॥

क्योंकि—पण्डित लोग नीतिशास्त्रमें कही हुई बुराईके होनेसे उत्पन्न हुई विपत्तिको, और उपायसे उत्पन्न हुई सिद्धिको नेत्रोंके सामने साक्षात् झलकती हुईसी देखते हैं' ॥ ६२ ॥

करटको ब्रूते—'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि ।

करटक बोला—'तो भी विना अवसरके नहीं कह सकते हो;

यतः,—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम्' ॥ ६३ ॥

क्योंकि—बिना अवसरकी बातको कहते हुए बृहस्पतिजीभी बुद्धिकी निन्दा और अनादरको सर्वदा पा सकते हैं' ॥ ६३ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र ! मा भैषीः । नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि ।

दमनक बोला—'मित्र ! डरो मत; मैं विना अवसरकी बात नहीं कहूंगा;

यतः,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६४ ॥

क्योंकि—आपत्तिमें, कुमार्ग पर चलनेमें और कार्यका समय टले जानेमें, हित चाहने वाले सेवकको बिना पूछेभी कहना चाहिये ॥ ६४ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम् ।

और जो अवसर पा कर भी मैं परामर्श (राय) नहीं कहूंगा तो मुझे मंत्रीपनाभी अयोग्य है ।

यतः,—

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ६५ ॥

क्योंकि—मनुष्य जिस गुणसे आजीविका पाता है और जिस गुणके कारण इस दुनियामें सज्जन उसकी बड़ाई करते हैं, गुणीको ऐसे गुणकी रक्षा करना और बड़े यत्नसे बढ़ाना चाहिये ॥ ६५ ॥

तदत्र। अनुजानीहि माम् गच्छामि'। करटको ब्रूते-'शुभमस्तु। शिवास्ते पन्थानः। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति। ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः।

इसलिये हे शुभचिन्तक! मुझे आज्ञा दीजिये । मैं जाता हूं ।' करटकने कहा-'कल्याण हो। और तुम्हारे मार्ग विघ्नरहित अर्थात् शुभ हो । अपना मनोरथ पूरा करो!' तब दमनक घबराया-सा पिंगलकके पास गया ॥

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्योपविष्टः। राजाह—'चिराद्दृष्टोऽसि'। दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां[1] न किंचित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सांनिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि।

तब दूरसेही बडे आदरसे राजाने भीतर आने दिया और वह साष्टांग दंडवत करके बैठ गया। राजा बोला-'बहुत दिनसे दीखे।' दमनक बोला-'यद्यपि मुझ सेवकसे श्रीमहाराजको कुछ प्रयोजन नहीं है तोभी समय आने पर सेवकको अवश्य पास आना चाहिये, इसलिये आया हूं;

किं च,—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन्!
कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण॥ ६६॥

और-हे राजा! दांतके कुरेदनेके लिये तथा कान खुजानेके लिये राजाओंको तुनकेसेभी काम पडता है फिर देह, वाणी तथा हाथ वाले मनुष्यसे क्यों नहीं? अर्थात् अवश्य पडताही है॥ ६६॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्क्यते, तदपि न शङ्कनीयम्।

यद्यपि बहुत कालसे मुझ अनादर किये गयेकी बुद्धिके नाशकी श्रीमहाराज शंका करते हो सोभी शंका न करनी चाहिये,

---

१ यहां पाद अर्थात् चरणोंका शब्द केवल प्रतिष्ठाके लिये है।

यतः,—

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।
अधःकृतस्यापि तनूनपातो
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६७ ॥

क्योंकि—अनादरभी किये गये धैर्यवानकी बुद्धिके नाशकी शंका नहीं करनी चाहिये; जैसे नीचेकी ओर की गईभी अग्निकी ज्वाला कभीभी नीचे नहीं जाती है, अर्थात् हमेशा ऊंचीही रहती है ॥ ६७ ॥

देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम् ।

हे महाराज ! इसलिये सदा स्वामीको विवेकी होना चाहिये,

यतः,—

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते ।
यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ६८ ॥

क्योंकि—मणि चरणोंमें ठुकराता है और कांच शिर पर धारण किया जाता है सो जैसा है वैसा भलेही रहे. कांच कांचही है और मणि मणिही है ॥ ६८ ॥

अन्यच्च,—

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते ।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

और दूसरे–जब राजा सब (लायक और नालायक)के विषयमें समान वर्ताव करता है तब बड़े बड़े कार्यके करनेवाले (पुरुषों)का उत्साह नष्ट हो जाता है ॥ ६९ ॥

किं च,—

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवेतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

और हे राजा ! उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य हैं; उसी प्रकार इन तीन प्रकारके पुरुषोंको तीन प्रकारके ही काममें नियुक्त कर देना चाहिये ॥ ७० ॥

यतः,—

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

[illegible] योग्य स्थानों ([illegible]) लगा दिये जाते हैं, जैसे मुकुट पैरमें और पाजेब शिर पर नहीं पहिनी जाती है ॥ ७१ ॥

अपि च,—

> कनकभूषणसंग्रहणोचितो
> यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
> न च विरौति न चापि स शोभते
> भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

और भी सुवर्णके आभूषणमें जड़नेके योग्य मणि, जो सीसा आदि धातुके आभूषणमें जड़ दिया जाय तो, वह मणि न तो झनकारता है और न शोभाही देता है किन्तु जड़ियेकी बुराई होती है ॥ ७२ ॥

अन्यच्च,—

> मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।
> न हि दोषो मणेरस्ति किंतु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

और दूसरे-जो मुकुटमें कांच जड़ दिया जाय, और चरणके आभूषणमें मणि जड़ दिया जाय तो कुछ मणिकी निन्दा नहीं है पर जड़ियेकी मूर्खता समझी जाती है ॥ ७३ ॥

पश्य,—

> बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
> इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७४ ॥

देखो-यह बुद्धिवान् है, यह राजभक्त है, यह शूर है, इससे भय है, इस प्रकार सेवकोंके विचारको जानने वाला राजा सेवकोंसे भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

तथा हि,—

> अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
> पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

और भी कहा है-घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, मनुष्य और स्त्री ये गुणीके अथवा गुणहीनके पास पहुंचते ही (उसके संसर्गसे) योग्य और अयोग्य बन जाते हैं ॥ ७५ ॥

अन्यच्च,—

> किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ? ।
> भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

और दूसरे-असमर्थ भक्तसे अथवा अपकारी समर्थसे क्या प्रयोजन निकलता है ? सो हे राजा ! मेरे समान भक्त और काम करनेमें समर्थका अपमान आपको नहीं करना चाहिये ॥ ७६ ॥

यतः,—

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

क्योंकि राजाके अपमान करनेसे आपसके (परिवारी) लोग बुद्धिहीन हो जाते हैं, पीछे उसके प्रमाणसे (अर्थात् मेराभी यह अपमान करेगा यह सोच कर) पण्डितजन उसके पास नहीं आते हैं । पण्डितोंसे छोड़े हुए राज्यमें नीति दोष-रहित नहीं होती है, और नीतिके बिगड़नेसे सब संसार बेवश होकर नष्ट हो जाता है ॥ ७७ ॥

अपरं च,—

जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

और दूसरे-राजासे सन्मान किये हुए मनुष्यकी प्रजा सर्वदा आदर करती है और राजासे अपमान किये गये (पुरुष) का सब अपमान करते हैं ॥ ७८ ॥

किं च,—

बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ?' ॥ ७९ ॥

और पण्डितोंको बालकसेभी योग्य बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे सूर्यके नहीं निकलने पर क्या दीपकका उजाला नहीं होता है ? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्-'भद्र दमनक ! किमेतत् ? त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि ? इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि ।' दमनको ब्रूते—'देव ! पृच्छामि किंचित् । उच्यताम् । उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति ?' । पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्तं त्वया । किंत्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । तथापि निभृतं

कृत्वा कथयामि । शृणु; संप्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतो ऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो मयापि महानपूर्वशब्दः । शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम् ।' दमनको ब्रूते—'देव! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः । किंतु स किंमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोपदिशति । अस्मिन्कार्यसंदेहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः ।

पिंगलक बोला–'प्यारे दमनक! यह क्या बात है? तू हमारे मुख्य मंत्रीका पुत्र होकर इतने समय तक किसी दुष्टके सिखाये भलायेसे नहीं आया? अब जो तेरा मनोरथ हो कह दे।' दमनक बोला–'महाराज! कुछ पूछता हूं, कहिये। स्वामी प्यासे होकर पानीके विना पिये क्यों घबराये हुएसे बैठे हैं?' पिङ्गलक बोला–'तूने अच्छी बात पूछी परंतु यह गुप्त बात कहनेके लिये कोई भरोसेका मनुष्य नहीं है। तोभी यहां एकांत होनेसे कहता हूं, सुन; इस बनमें अब एक अपूर्व जीव आ कर बसा है और हमें त्यागना पड़ेगा इस कारण मैं घबराया हुआ-सा हूं और मैंने बड़ा भारी एक अपूर्व शब्दभी सुना है। और शब्दके अनुसार इस प्राणीका बड़ा बल होगा।' दमनक बोला–'महाराज! यह तो बड़े भयका कारण है। वह शब्द तो मैंनेभी सुना है परन्तु वह बुरा मंत्री है कि जो पहले धरती छोड़नेका और पीछे लड़नेका उपदेश देता है। इस कामके संदेहमेंही सेवकोंके कार्य करनेकी चतुरता जाननी चाहिये॥

यतः,—

> बंधुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
> आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्' ॥ ८० ॥

क्योंकि—बांधव (भाई या संबंधी) स्त्री, सेवक, अपनी बुद्धि और अपना बल इनकी उत्कर्षताको मनुष्य आपत्तिरूपी कसौटी पर परीक्षा करता है' ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र! महती शङ्का मां बाधते।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां संभाषसे?'। प्रकाशं ब्रूते—'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किंतु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः।'

सिंह बोला—'हे शुभचिंतक! मुझे बड़ी शंका दुःख दे रही है।' फिर दमनक अपने जीमें कहने लगा—'जो यह न होता तो राज्यका सुख छोड़ कर दूसरे स्थानमें जानेके लिये मुझसे क्यों कहते हो?' प्रकट बोला—'महाराज! जब तक मैं जीता हूं तब तक भय नहीं करना चाहिये, परन्तु करटक आदिकोभी भरोंसा दे दीजिये, क्योंकि विपत्तिके प्रतिकार (उपाय)के समय पुरुषोंका इकट्ठा होना दुर्लभ है।'

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे! किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः? यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः।

तब राजाने तन, मन, और धनसे उन दोनोंका सत्कार किया और वे दोनों दमनक, करटक भयके उपायकी प्रतिज्ञा करके चले। चलते चलते करटकने दमनकसे कहा—'मित्र! भयके कारणका उपाय होनेके योग्य है अथवा उपाय न होनेके योग्य है यह बिनाही जाने भयके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करके कैसे यह महाप्रसाद (वस्त्र, आभूषण इत्यादि) लेलिया? क्योंकि अनुपकारी (बिना उपाय किये किसी)की भी भेट नहीं लेनी चाहिये और विशेष करके राजाकी।'

पश्य,—

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ८१॥

देखो—जिसकी प्रसन्नतामें लक्ष्मी रहती है, पराक्रममें जय रहता है, और क्रोधमें मृत्यु रहती है, वह (राजा) सचमुच तेजस्वी होता है॥ ८१॥

तथा हि,—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'॥ ८२॥

और बालक होने पर भी राजाका मनुष्य समझकर अपमान नहीं करना चाहिये. क्योंकि यह मनुष्यके रूपसे स्वयं बड़ी देवता है'॥ ८२॥

दमनको विहस्याह—'मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । मया ज्ञातं भय-कारणम् । बलीवर्दनर्दितं तत् । वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः । किं पुनः सिंहस्य ? ।' करटको ब्रूते—'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः ?' । दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रासस्तत्रैवमुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात् ?

दमनक हंस कर बोला–'मित्र ! तुम चुप बैठे रहो, मैंने भयका कारण जान लिया है । वह बैलका नाद था । और बैल तो हमाराभी भोजन है, फिर सिंहका क्या कहना है ?' करटक बोला—'जो ऐसा ही है तो फिर स्वामीका भय वहांही क्यों नहीं दूर कर दिया ?' दमनकने कहा—'जो स्वामीका भय वहां ऐसे कह देता तो यह सुंदर वस्त्र आभूषणोंका लाभ कैसे होता ?

अपरं च,—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्' ॥ ८३ ॥

और दूसरे—सेवकोंको चाहिये कि स्वामीको कभी निचला न बैठने दें, अर्थात् कुछ न कुछ झगड़ा लगातेही रहें, क्योंकि सेवक स्वामीको अपेक्षारहित करके दधिकर्ण बिलावके समान मारा जाता है' ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । दमनकः कथयति—

करकट पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहने लगा ।—

कथा ४

[सिंह, चूहा और बिलावकी कहानी ४]

'अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः । तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषिकः प्रत्यहं छिनत्ति । ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

'उत्तर दिशाके मार्गमें अर्बुदशिखर नाम पर्वत पर दुर्दांत नाम एक बड़ा पराक्रमी सिंह रहता था. उस पर्वतकी कंदरामें सोते हुये सिंहकी लटाके बालोंको एक चूहा नित्य काट जाया करता था, तब लटाओंके छोरको कटा देख क्रोधसे बिलके भीतर घुसे हुये चूहेको नहीं पा कर (सिंह) सोचने लगा,—

क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते ।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८३ ॥

'जो छोटा शत्रु हो और पराक्रमसेभी न मिले तो उसको मारनेके लिये उसके (चाल और बलसे) समान घातक उसके आगे कर देना चाहिये' ॥८४॥

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः । अनन्तरं तद्भयान्मूषिकोऽपि बिलान्न निःसरति । तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति । मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा मांसाहारदानेन तं बिडालं संवर्धयति ।

यह विचार कर उसने गांवमें जा और भरोसा दे कर दधिकर्ण नाम बिलावको यत्नसे ला मांसका आहार दे कर अपनी गुहामें रख लिया । पीछे उसके भयसे चूहाभी बिलसे नहीं निकलने लगा—कि जिससे यह सिंह बालोंके नहीं कटनेके कारण सुखसे सोने लगा । जब जब चूहेका शब्द सुनता था तब तब मांसके आहारसे उस बिलावको तृप्त करता था ॥

अथैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो बहिः संचरन्बिडालेन प्राप्तो व्यापादितश्च । अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न पश्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगाद्बिडालस्याप्याहारदाने मन्दादरो बभूव । ततोऽसावाहारविहारविरहादुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि—"निरपेक्षो न कर्तव्यः" इत्यादि' ॥ ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ । तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः ।

फिर एक दिन भूखके मारे बाहर फिरते हुए उस चूहेको बिलावने पकड लिया और मार डाला । पीछे उस सिंहने बहुत काल तक जब चूहेको न देखा और उसका शब्दभी न सुना तब उसके उपयोगी न होनेसे बिलावके भोजन देनेमेंभी कम आदर करने लगा । फिर, वह दधिकर्ण आहारविहारसे दुर्बल हो कर मर गया । इसलिये मैं कहता हूं-"अपेक्षा रहित नहीं करना चाहिये" इत्यादि'. इसके अनन्तर दमनक और करटक दोनों संजीवकके पास गये । वहां करटक पेडके नीचे बडे अहंकारसे बैठ गया ।

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—'अरे वृषभ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति-'-"सत्वरमागच्छ। न चेदस्मादरण्याद्दूरमपसर; अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति।" न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति।' तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायात्।

दमनक संजीवकके पास जा कर बोला—'अरे बैल! ये मैं वह हूं कि जिसको राजा पिंगलकने वनकी रखवालीके लिये नियुक्त किया है. सेनापति करटक तुझे आज्ञा करता है कि "शीघ्र आ; जो न आवे तो हमारे बनसे दूर चला जा। नहीं तो तेरेलिये बुरा फल होगा", न जाने क्रोधी स्वामी क्या कर डाले'. यह सुन कर संजीवकभी साथ आया.

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः॥ ८५॥

राजाकी आज्ञाका भंग, ब्राह्मणोंका अनादर, स्त्रियोंकी अलग शय्या रखना, इनको विना शस्त्रसे वध (मृत्यु) कहते हैं॥ ८५॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान्।

फिर, देशकी रीतिको नहीं जानने वाले संजीवकने डरते डरते पास जा कर करटकको साष्टांग प्रणाम किया;

तथा चोक्तम्,—

मतिरेव बलाद्गरीयसी
यदभावे करिणामियं दशा।
इति घोषयतीव डिण्डिमः
करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन्॥ ८६॥

जैसा कहा है—बलसे बुद्धि अधिक बडी है कि जिस बुद्धिके न होनेसे हाथियोंकी ऐसी दशा होती है, अर्थात् बली होने पर भी मतिहीन होनेसे पराधीन हो जाते हैं; यही बात मानों हाथीवानसे बजाया गया हाथीका नगाडा शब्द करके कहता है॥ ८६॥

ततः संजीवकः साशङ्कमाह—'सेनापते ! किं मया कर्तव्यम् ? तदभिधीयताम् ।' करटको ब्रूते—'वृषभ ! अत्र कानने तिष्ठसि । अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम ।' संजीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे यच्छ, गच्छामि ।' करटको ब्रूते—'शृणु रे बलीवर्द ! अलमनया शङ्कया ।

फिर संजीवक शंकासे बोला—'हे सेनापति ! मुझे क्या करना चाहिये ? सो कहिये ।' करटक ने कहा—'हे बेल ! इस बनमें ठहरते हो, सो हमारे महाराजके चरणकमलोंको प्रणाम करो'. संजीवक बोला—'मुझे अभय वचन दो; मैं चलूं ।' यह सुन करटक बोला—'सुन रे बैल ! ऐसी दुबिधा मत कर;

यतः,—

प्रतिवाचमदत्त केशवः
शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुंकुरुते घनध्वनिं
न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्णने गाली देते हुए चंदेरीके राजा शिशुपालको दुहराके उत्तर नहीं दिया. क्योंकि सिंह मेघकी गर्जनाको सुन कर हुंकार कर गर्जता है, न कि सियारके चिल्लानेको सुनके ॥ ८७ ॥

अन्यच्च,—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान् महत्स्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

और भी देख-आंधी चारों ओरसे झुके हुए तथा कोमल और छोटे छोटे पौदोंको नहीं उखाडती है, पर बडे बडे जुगादी पेडोंको जडसे गिरा देती है, क्योंकि बडा बडेही पर विक्रम करता (दिखाता) है' ॥ ८८ ॥

ततस्तौ संजीवकं किंचिद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ ।

फिर वे दोनों संजीवकको थोडी दूर पर ठहरा कर पिंगलकके पास गये ॥

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ। राजाह—'त्वया स दृष्टः?'। दमनको ब्रूते—'देव! दृष्टः। किंतु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा। महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति। किंतु महाबलोऽसौ, ततः सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम्। शब्दमात्रादेव न भेतव्यम्।

राजाने उन दोनोंको आदरसे देखा और वे दोनों प्रणाम करके बैठ गये। फिर राजा बोला—'तुमने उसे देखा? दमनकने कहा—'महाराज! देखा; परन्तु जैसा महाराजने समझा था वैसाही है। बड़ा है, महाराजके दर्शन करना चाहता है। परन्तु वह बड़ा बलवान् है। इसलिये सावधान हो बैठ कर देखिये। केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये।

तथा चोक्तम्,—

शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम्।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता' ॥ ८९ ॥

जैसा कहा है—शब्दका कारण बिना जाने केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये। जैसे शब्दका कारण जानकर कुटनीने आदर पाया' ॥ ८९ ॥

राजाह—'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसी है?' दमनक कहने लगा।—

कथा ५

[बन्दर, घंटा और कराला नामक कुटनीकी कहानी ५]

'अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः। प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते। अनन्तरं 'घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान्खादति घण्टां च वादयती'त्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः। ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः। तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः—'देव! यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि।'

ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम्। कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि। ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलासक्ता बभूवुः। कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्याऽभवत्। अतोऽहं ब्रवीमि—"शब्दमात्रान्न भेतव्यम्" इत्यादि॥' ततः संजीवक आनीय दर्शनं कारितः। पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या निवसति।

श्रीपर्वतके बीचमें एक ब्रह्मपुर नाम नगर था। उसके शिखर पर एक घंटाकर्ण नाम राक्षस रहता था, यह मनुष्योंसे उड़ती हुई खबर सुनी जाती है। एक दिन घंटेको ले कर भागते हुये किसी चोरको व्याघ्रने मार डाला, और उसके हाथसे गिरा हुआ घंटा बंदरोंको मिला। बंदर उस घंटेको बार बार बजाते थे. तब नगरवासियोंने देखा कि वह मनुष्य खा लिया गया और प्रतिक्षणमें घंटेका बजना सुनाई देता है। तब सब नागरिक लोग "घंटाकर्ण क्रोधसे मनुष्योंको खाता है और घंटेको बजाता है—" यह कह कर नगरसे भाग चले। बाद कराला नाम कुटनीने विचार किया कि यह घंटेका शब्द बिना अवसरका है; इसलिये क्या बन्दर घंटेको बजाते हैं? इस बातको अपने आप जान कर राजासे कहा-'जो कुछ धन खर्च करो तो मैं इस घंटाकर्ण राक्षसको वशमें कर लूं।' फिर राजाने उसे धन दिया. और कुटनीने मंडल बनाया और उसमें गणेश आदिकी पूजाका चमत्कार दिखला कर और बन्दरोंको अच्छे लगने वाले फल ला कर वनमें उनको फैला दिया। फिर बन्दर घंटेको छोड़ कर फल खाने लग गये। और कुटनी घंटेको ले कर नगरमें आई और सब जनोंने उसका आदर किया। इसलिये मैं कहता हूं "केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये" इत्यादि'। फिर संजीवकको ला कर दर्शन कराया। पीछे वह वहांही बड़ी प्रीतिसे रहने लगा॥

अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः समागतः। तस्यातिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशुं हन्तुं चलितः। अत्रान्तरे संजीवको वदति—'देव! अद्य हतमृगाणां मांसानि क?'। राजाह—'दमनक-करटकौ जानीतः'। संजीवको ब्रूते-'ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा।' सिंहो विमृश्याह—'नास्त्येव

तत्'। संजीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम् ?' राजाह—'खादितं व्ययितमवधीरितं च । प्रत्यहमेष क्रमः। संजीवको ब्रूते—'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते ?'। राजाह—'मदीयागोचरेणैव क्रियते।' अथ संजीवको ब्रूते—'नैतदुचितम्।

इसके अनन्तर एक दिन उस सिंहका भाई स्तब्धकर्ण नामक सिंह आया। उसका आदर-सत्कार करके और अच्छी तरह बैठा कर पिंगलक उसके भोजनके लिये पशु मारने चला। इतनेमें संजीवक बोला कि—'महाराज! आज मारे हुए मृगोंका मांस कहां है?' राजाने कहा–'दमनक करटक जाने।' संजीवकने कहा–'तो जान लीजिये कि है या नहीं' सिंहने सोच कर कहा–'अब वह नहीं है।' संजीवक बोला–'इतना सारा मांस उन दोनोंने कैसे खा लिया?' राजा बोला–'खाया, बांटा और फेंक फांक दिया। नित्य यही डौल रहता है।' तब संजीवकने कहा–'महाराजके पीठ पीछे इस प्रकार क्यों करते हैं?' राजा बोला–'मेरे पीठ पीछे ऐसाही किया करते हैं।' फिर संजीवकने कहा–'यह बात उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्,—

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किंचिदपि स्वयम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते!॥ ९०॥

जैसा कहा है—हे राजा! स्वामिके बिना जताये आपत्तिके उपायको छोड़ और कुछ काम अपने आप नहीं करना चाहिये॥ ९०॥

अन्यच्च,—

कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः।
नृपते! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः॥ ९१॥

और हे राजा! मंत्री कमंडलुके समान है, क्योंकि थोड़ा खर्च करता है और बहुत संग्रह करता है, और मूर्ख समयको अनमोल नहीं समझता है, अर्थात् इस थोड़ेसे समयमें क्या होगा? और दरिद्री कौड़ीको अनमोल नहीं जानता है॥ ९१॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत्।
कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः॥ ९२॥

निश्चय करके वही मंत्री श्रेष्ठ है जो दमड़ी दमड़ी करके कोषको बढावे, क्योंकि कोषयुक्त राजाका कोषही प्राण है, केवल जीवनही प्राण नहीं है, अत एव कोषको प्राणोंसेभी अधिक रक्खे ॥ ९२ ॥

किं चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ? ॥ ९३ ॥

और धन आदिके विना अन्य अच्छे कुल और आचारसे पुरुष आदर नहीं पाता है, क्यों कि धनहीन मनुष्यको उसकी स्त्री भी छोड़ देती है फिर दूसरोंकी बातही क्या है ? ॥ ९३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

और यह राजाका मुख्य दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथाऽर्जनमधर्मतः ।
मोषणं दूरसंस्थानं कोशव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

बहुत खर्च करना, धनकी इच्छा न रखना, अन्यायसे धन इकट्ठा करना, अन्यायसे किसीका धन छीन लेना, और धनको (अपनेसे) दूर रखना यह कोषका व्यसन याने दोष कहा गया है ॥ ९४ ॥

यतः,—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः' ॥ ९५ ॥

क्योंकि धनके लाभको विना विचारे अपनी इच्छासे शीघ्र व्यय करनेवाला कुबेरके समान धनवान् होने पर भी वह धनी अवश्य दरिद्री हो जाता है' ९५

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'श्रृणु भ्रातः! चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ ।

स्तब्धकर्ण बोला—'सुनो भाई ! ये दमनक करटक बहुत दिनोंसे अपने आश्रयमें पड़े हुये हैं और लड़ाई तथा मेल करानेके अधिकारी हैं, धनके अधिकार पर उनको कभी नहीं लगाने चाहिये ।

अपरं च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते—

और दूसरे, ऐसे कामके विषयमें जो मैंने सुना है सो कहता हूं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते ।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और भाई (या आप्त) इनको अधिकार पर लगाना अच्छा नहीं । क्योंकि ब्राह्मण शीघ्र सिद्ध होनेवाले प्रयोजनको राजाके आग्रहको जान कर कठिनतासे भी नहीं करता है ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

जो क्षत्रियको धनके काम पर रक्खे तो निश्चय करके राज्य छिन लेनेकी इच्छासे तरवार दिखलाने लगता है, और बान्धव ज्ञातिके कारण घेर कर सब धन हर लेता है ॥ ९७ ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निर्भय रहता है और स्वामीकी अवज्ञा करके विना रोकटोक काम करता है ॥ ९८ ॥

उपकर्ताऽधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९९ ॥

उपकार करनेवाला अधिकार पर बैठ कर अपने अपराधको नहीं मानता है और उपकारको आगे करके सब दोषोंको लुपा देता है ॥ ९९ ॥

उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद्ध्रुवम् ॥ १०० ॥

मंत्री सब गुप्त बातोंको जाननेवाला होता है कि जिससे आप राजा कैसे आचरण करता है और वह पास रहनेसे निश्चय स्वामीका अनादर करता है ॥ १०० ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ! ॥ १०१ ॥

हे राजा ! भीतरका दुष्ट अर्थात् पीठ पीछे काम बिगाड़नेवाला और सहनशील अर्थात् सामने हित दिखानेवाला मंत्री निश्चय करके सब अनर्थोंका करनेवाला होता है । इस विषयमें शकुनि[1] और शकटार[2] ये दो दृष्टान्त हैं ॥ १०१ ॥

---

१ दुर्योधनका मामा जो मंत्रीके पद पर काम करता था. २ राजा महानंदका मंत्री.

सदामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२ ॥

धनसे बढ़े हुए सब मंत्री लोग निश्चय करके अंतमें असाध्य अर्थात् स्वतंत्र हो जाते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य चित्तको विकृत करनेवाला (दानतको बिगाड़नेवाला) है, यह महात्माओंका वाक्य है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

मिले हुए धनका भार लेना, द्रव्यका अदलबदल करना, अनुरोध (वार २ द्रव्य मांगना) सब कामोंमें उदासीन (आलकस), बुद्धिहीन होना और परस्त्रियोंके साथ भोगमें लगा रहना यह मंत्रीके दूषण हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहापायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०४ ॥

और राजाके संचय किये हुए धनका नाश, राजाओंकी नित्य परीक्षा, अर्थात् प्रसन्न है या अप्रसन्न है, यह जानना और प्रिय वस्तुका दे देना, और करनेके योग्य काममें आलस्य करना येभी मंत्रीके दूषण हैं ॥ १०४ ॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अधिकारी लोग अधिक दबानेसे राजाके भीतरके मेदको सर्वत्र ऐसे उगलते फिरते हैं कि जैसे फोड़ा अधिक दबानेसे भीतरकी राद इत्यादि उगल देता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते ! ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्द्रुतं पयः ? ॥ १०६ ॥

और हे राजा ! अधिकारीके जोड़े हुए धनकी वार वार परीक्षा करनी चाहिये । क्योंकि एकवार निचोड़ा हुआ नहानेका वस्त्र क्या शीघ्र जलको छोड़ देता है ? अर्थात् कभी नहीं छोड़ता है ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम् ।' सिंहो ब्रूते—'अस्ति तावदेवम्, किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा ।

यह सब जैसा अवसर हो वैसा जान कर काम करना चाहिये।' सिंह बोला-'यह तो है ही, पर ये सर्वथा मेरी बातको नहीं माननेवाले हैं।' स्तब्धकर्ण बोला-'यह सब प्रकारसे अनुचित है।

यतः,—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत् स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ १०७ ॥

क्योंकि—राजा आज्ञाभंग करनेवाले अपने पुत्रोंकोभी क्षमा न करें, क्योंकि ऐसा न करनेसे पराक्रमी राजामें और चित्रमें लिखे हुए राजामें क्या भेद है? अर्थात् ऐसा राजा किसी कामका नहीं होता है ॥ १०७ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०८ ॥

निष्क्रिय मनुष्यका यश, चंचल चित्तवालेकी मित्रता, दुष्ट इन्द्रियवालेका कुल, धनके लोभीका धर्म, द्यूत आदि व्यसनमें आसक्तका विद्याफल, कृपणका सुख, और विवेकहीन मंत्रीवाले राजाका राज्य नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

अपरं च,—

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि ॥ १०९ ॥

और दूसरे-राजाको चोरोंसे, सेवकोंसे, शत्रुओंसे अपने प्रिय मंत्री आदिसे और अपने लोभसे, पिताके समान प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १०९ ॥

भ्रातः! सर्वथाऽस्मद्वचनं क्रियताम्। व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव। अयं संजीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम्।' एतद्वचनात्तथानुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलक-संजीवकयोः सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते। ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनक-करटकावन्योन्यं चिन्तयतः। तदाह दमनकः करटकम्—'मित्र किं कर्तव्यम्? आत्मकृतोऽयं दोषः। स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्।

भाई! सब प्रकारसे मेरा कहना करो और व्यवहार तो हमने करही लिया है। इस घास चरनेवाले संजीवकको धनके अधिकार पर रख दो। इस बातके ऐसा करने पर उसी दिनसे पिंगलक और संजीवकका सब बांधवोंको छोड़ कर बड़े स्नेहसे समय बीतने लगा। फिर सेवकोंको आहार देनेमें शिथिलता देख दमनक और करटक आपसमें चिंता करने लगे। तब दमनक करटकसे बोला—'मित्र! अब क्या करना चाहिये? यह अपनाही किया हुआ दोष है, स्वयंही दोष करने पर पछताना भी उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्—

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्ध्वात्मानं च दूतिका।
आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाद्दुःखिता इमे' ॥ ११० ॥

जैसा कहा है—मैं स्वर्णरेखाको छू कर, और कुटनी अपनेको बांध कर तथा साधु मणि लेनेकी इच्छासे—ये तीनों अपने दोषसे दुःखी हुए' ॥ ११० ॥

करटको ब्रूते—'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है? दमनक कहने लगा। —

कथा ६

[संन्यासी, बनिया, ग्वाला, ग्वालिन और नायनकी कहानी ६]

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा। तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कंदर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन 'नायं हन्तव्यः' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः। राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः?'। स आह—'श्रूयताम्।' "स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा" इत्यादि पठति। त आहुः—'कथमेतत्?'। परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपे भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कंदर्पकेतुर्नाम। एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं-'यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद्दृश्यते' इति। ततोऽहं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः। अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन

मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः। तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता। तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं संभाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—'एषा कंदर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते।'—"यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यति" इति मनसः संकल्पः। तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्।' अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्प्रष्टव्या। पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। अथ दुःखार्तोऽहं परिव्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्। प्रदोषसमये सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः ततोऽर्धरात्र एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यावदत्—तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते।

कांचनपुर नाम नगरमें वीरविक्रम नाम एक राजा था। उसका धर्माधिकारी किसी नाईको वधस्थानमें ले जा रहा था, उस समय कंदर्पकेतु नाम कोई संन्यासी जिसका साथी एक बनिया था उसने 'यह मारनेके योग्य नहीं है' यह कह कर अपने वस्त्रके पल्लेसे उसे छिपा लिया। राजाके सेवक बोले—'यह मारनेके योग्य क्यों नहीं है?' वह बोला—'सुनिये, "मैं स्वर्णरेखाको छू कर" इत्यादि पढ़ता है।' वे बोले—'यह कथा कैसी है?'। संन्यासी कहने लगा—'मैं सिंहलद्वीपके जीमूतकेतु नाम राजाका कन्दर्पकेतु नामक पुत्र हूं। एक समय मैंने क्रीडाविहारके उपवनमें बैठे बैठे एक नावके व्यापारीके मुखसे यह सुना कि यहां समुद्रके बीचोबीचमें चौदसके दिन कल्पवृक्ष निकलता है; उसके नीचे रत्नोंकी किरणोंका बाढ़की झलकसे झलकते

हुए रंगबिरंगे पलंग पर बैठी हुई और सब आभूषणोंसे भूषित दूसरी लक्ष्मीके समान वीनको बजाती हुई कोई कन्या दिखाई दिया करती है। फिर मैं नावके व्यापारीको लाकर और नाव पर चढ़ कर वहां गया। पीछे वहां जा कर पलंग पर आधी डूबी हुई जैसी कही वैसीही मैंने देखी। फिर उसके सुन्दरताके गुणोंसे लुभाया गया, मैं भी उसके पीछे झट कूद पड़ा। इसके अनन्तर कनकपुरमें पहुंच कर सुवर्णके भवनमें वैसेही पलंग पर बैठी हुई और विद्याधरियोंसे सेवा की गईको मैंने देखी, उसनेभी मुझे दूरसे देख कर और सहेलीको भेज कर आदरसे "मुझे बुलानेका" संदेसा कहला भेजा। और जब मैंने सखीसे "उसके विषयमें" पूछा, तब उसने सब अच्छे प्रकारसे कह सुनाया कि यह कंदर्पकेलि नामक अप्सराओंके चक्रवर्ती राजाकी रत्नमंजरी नाम बेटी यह प्रतिज्ञा कर बैठी है कि "जो कोई कनकपुरको अपने नेत्रसे देखेगा वह मेरे पिताको विना जाने भी मुझे व्याह लेगा'। यह मनका संकल्प है। इसलिये आप इसके साथ गंधर्वविवाह कर लीजिये।' फिर वहां गंधर्वविवाह होनेके बाद उसके साथ रमण करता हुआ मैं वहां रहने लगा। फिर एक दिन उसने मुझसे एकांतमें कहा-'हे स्वामी! अपनी इच्छापूर्वक यह सब पदार्थ भोगो। परंतु इस चित्रलिखित सुवर्णरेखा नाम अप्सराको कभी छूना नहीं। फिर एक दिन कुतूहलसे मैंने स्वर्णरेखाको अपने हाथसे छू लिया और उस चित्रमें लिखी हुई (सुवर्णरेखा) ने अपने चरणकमलसे मुझे ऐसा ठुकराया कि मैं अपने राज्यमें आ पड़ा। पीछे मैं दुःखसे दुःखी संन्यासी हुआ पृथ्वी पर घूमता घूमता इस नगरीमें आ पहुंचा हूं और यहां दिनके डूबने पर एक ग्वालाके घरमें सोते सोते देखा कि सन्ध्याके समय ग्वाला मित्रोंका सत्कार करके अपने घर आया और अपनी स्त्रीको एक कुट्टनीके साथ कुछ गुप्त भाषण करते हुए देख लिया। फिर उस ग्वालिनको मारपीट कर और खंभेमें बांध कर सो रहा। पीछे आधी रातको इसी नाईकी बहू कुट्टनी फिर उस घोसिनके पास आ कर कहने लगी-'तेरे विरहकी अग्निसे जला हुआ कामदेवके बाणोंसे घायल वह मरासू-सा हो रहा है।

तथा चोक्तम्,—

> रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
> यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

जैसा कहा है—चन्द्रमासे रातमें अंधकार दूर होने पर कामदेवने देख देख कर युवाओंके चित्तोंको व्याकुल किया ॥ १११ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमागता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य सत्वरमागमिष्यसि। तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—'इदानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि'। ततो यदासौ न किंचिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि?' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्तिकामादायास्या नासिका छिन्ना। तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्ता?'। दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव वार्तां कथयति।' अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः प्रातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं प्रादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्॥ अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती॥ सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप! को मां महासतीं निरूपयितुं समर्थः? मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति।

उसकी वैसी दशा देख कर मनमें घबराई हुई तेरी अनुवर्तिनी (एवजी) करने आई हूं। इसलिये मैं यहां अपनेको बांध कर रहती हूं। तू वहां जा कर उसको संतुष्ट कर—शीघ्र लौट आइयो'। ऐसा कहने पर वह ग्वाला जाग कर कहने लगा-'अब तुझ पापिनको तेरे यारके पास ले चलूं।' फिर जब यह कुछ न बोली तब ग्वाला झुंझलाया। 'घमंडसे मेरी बातका उत्तरभी नहीं देती है?' यह कह कर क्रोधसे उसने छुरी निकाल, उसकी नाक काट डाली। वैसा करके ग्वाला फिर सो गया, और उसे निद्रा आ गई। फिर ग्वालिनने आ कर दूतीसे पूछा—'क्या बात है?' दूतीने कहा-'मुझे देख ले, मुखही बात कह देता है।' फिर वह ग्वालिन वैसेही करके आप अपनेको बांध कर ठहरी रही, और वह दूती उस कटी हुई नाकको ले कर अपने घरमें घुस कर बैठी रही। फिर प्रातःकाल होतेही

इस नाईने अपनी बहूसे पेटी मांगी। उसने एक उस्तरा दे दिया। फिर अधूरी पेटीको पा कर इसे बड़ा क्रोध आया और इस नाईने उस उस्तरेको दूरसेही घरमें फेंक दिया। पीछे इसने बड़ा हुर्रा मचाया कि बिना अपराध इसने मेरी नाक काट डाली है; यह कह कर इसे धर्माधिकारीके पास ले आई। और उधर ग्वालाने उस ग्वालिनसे फिर पूछा और वह बोली-'अरे पापी! कौन मुझसी महापतिव्रताका निरूपण कर सकता है? मेरे पापरहित व्यवहारको आठों लोकपालभी जानते हैं।

यतः,—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥ ११२॥

क्योंकि—सूर्य, चंद्रमा, पवन, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिन, रात, दोनों संध्या और धर्म ये मनुष्यके आचरणको जानते हैं॥ ११२॥

यद्यहं परमसती स्याम्, त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि न हि भजे, तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽछिन्नास्तु। मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे। किंतु स्वामी त्वम्। लोकभयादुपेक्षे। पश्य मन्मुखम्।' ततो यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽयं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति। योऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि। अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र वेश्यागृहे सुप्तः। तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते। तत्र लुब्धेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय रत्नं ग्रहीतुं यत्नः कृतः। तदा तेन वेतालेन सूत्रसंचारितबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार। पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्—'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि। तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छास्मै नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि।' इत्थमेवायं चेटकः। ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथाऽयमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मिलितः।' एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्याये धर्माधिकारी प्रवर्तितः।

अनन्तरं तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते। नापितश्च गृहं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा" इत्यादि ॥ अथ स्वयं कृतोऽयं दोषः। अत्र विलपनं नोचितम्। (क्षणं विमृश्य।) मित्र! यथाऽनयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः।

जो मैं सच्ची पतिव्रता होऊं, तुझे छोड़ दूसरेको न जानती होऊं, दूसरे पुरुषको स्वप्नमेंभी न भजती होऊं तो उस पातिव्रत्य धर्मसे मेरी कटी हुई नाकभी बिना कटी हो जाय. मैं तुझे भस्म कर सकती हूं, परन्तु तू पति है, संसारके भयसे डरती हूं। मेरा मुख देख । 'फिर जब उस ग्वालेने दिया जला कर उसका मुख देखा तभी उसका नाकसमेत मुख देख कर उसके चरणोंमें गिर पड़ा–'मुझे धन्य है कि जिसकी ऐसी पतिव्रता स्त्री है ॥ और यह दूसरा जो बनिया है उसका वृत्तान्तभी कहता हूं। यह अपने घरसे निकल कर बारह बरसमें मलयाचलके पास इस नगरीमें आया, यहां वेश्याके घरमें सोया; उस कुट्टनीके घरके द्वार पर बैठाये गये काठके बने हुए वेतालके सिरमें एक अनमोल रत्न था. वहां इस लोभी बनियेने रातको उठ कर रत्न लेनेका यत्न किया. तब उस पिशाचने सूतसे चलाई गई भुजाओंसे उसे खींचा और वह रो कर चिल्लाया. पीछे उठ कर कुट्टनीने कहा-'हे पुत्र! तू मलयके पाससे आया है। इसलिये सब रत्न इसे दे दे. नहीं तो तू इससे नहीं छुटेगा; यह सेवक ऐसाही है'. तब इसने सब रत्न दे दिये. और इस प्रकार यह सर्वस्व खो कर हमारे साथ आ कर मिल गया। यह सब सुन कर राजपुरुषोंने न्याय करनेके लिये धर्माधिकारीको प्रवृत्त कर दिया; फिर उसने उस दूती और ग्वालिनको देसनिकाला दे दिया ॥ और नाईभी घर गया। इसलिये मैं कहता हूं—"स्वर्णरेखाको मैंने छू कर" इत्यादि ॥ और यह अपनाही किया दोष है। इसमें विलाप करना उचित नहीं है। (क्षणभर जीमें विचार कर) हे मित्र! जैसे मैंने इन दोनोंकी मित्रता कराई थी वैसेही मित्रोंमें फूट भी कराऊंगा.

यतः,—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ॥ ११३ ॥

क्योंकि—अति चतुर मनुष्य झूठी बातोंकोभी सच्ची कर दिखाते हैं; जैसे चित्रके कामको जानने वाले मनुष्य, एकसे स्थान पर पहाड़, घर इत्यादि खींच कर नीचा ऊंचा दिखाते हैं ॥ ११३ ॥

अपरं च,—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

और दूसरे-जिसकी बुद्धि कार्योंके उपस्थित होने परभी नहीं घटती है वह मनुष्य संकटोंसे ऐसे बच जाता है, जैसे एक ग्वालिनने दो यारोंका निस्तारा किया ॥ ११४ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहने लगा।—

कथा ७

[ग्वाला, व्यभिचारिणी ग्वालिन, कोतवाल और उसके पुत्रकी कहानी ७]

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी। सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते।

द्वारावती नाम नगरीमें किसी ग्वालेकी बहू व्यभिचारिणी थी। वह गांवके दंडनायक और उसके पुत्रके साथ रमण किया करती थी.

तथा चोक्तम्,—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११५ ॥

और वैसा कहा भी है कि-अग्नि काष्ठोंसे, समुद्र नदियोंसे, मृत्यु सब प्राणियोंसे, और स्त्री पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती है ॥ ११५ ॥

अन्यच्च,—

न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

और स्त्रियोंका (धन आदिके) दानसे, सन्मानसे, (मिष्ट भाषण आदि) सीधेपनसे, सेवासे, शस्त्रसे और शास्त्रसे "वशमें होना" सब प्रकारसे कठिन है ॥ ११६ ॥

यतः,—

गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं
पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम् ।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥ ११७ ॥

क्योंकि–स्त्रियां सब गुणोंसे युक्त, यशस्वी, सुन्दर, कामशील, धनवान्, जवान ऐसे पतिको छोड़ कर शील और गुणसे हीन दूसरे मनुष्यके पास शीघ्र जाती हैं ॥ ११७ ॥

अपरं च,—

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी
विचित्रशय्यां शयितापि कामम् ।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ
प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ ११८ ॥

और दूसरे–स्त्री जैसी कि तृण आदि बिछी हुई भूमि पर यारके साथ अधिक सुख पाती है वैसा सुख मुलायम शय्या पर पतिके साथभी सो कर नहीं पाती है ॥ ११८ ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुशूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति । अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमालोक्य गोप्योक्तम्–'दण्डनायक! त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ। तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः?'। सा ब्रूते—'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः । स च पलायमानोऽत्रागत्य प्रविष्टो मया कुशूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति । ततः सा तत्पुत्रं कुशूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती ।

फिर वह किसी दिन दंडनायकके पुत्रके साथ रमण कर रही थी; इतनेमें दंडनायकभी रमण करनेके लिये वहां आ गया। तब उसको आता हुआ देख कर

उसके पुत्रको कुठीलेमें छुपा कर दंडनायकके साथ वैसेही क्रीडा करने लगी. इसके उपरांत उसका भर्ता ग्वाला पौंहारसे आया. उसको देख कर गोपीने कहा-'हे दंडनायक! तू लकडी ले कर क्रोधको दिखाता हुआ शीघ्र जा. उसके वैसा करने पर ग्वालाने घरमें आ कर स्त्रीसे पूछा-'किस कामसे दंडनायक आ कर यहां बैठा था?' वह बोली यह किसी कामके कारणसे पुत्रके ऊपर क्रोधित हुवा था. वह भाग कर यहां आ घुसा था और मैंने उसको कुठीलेमें घुसा कर बचा लिया. और उसके पिताने यहां ढूंढ कर न देखा इसलिये यह दंडनायक क्रोधित-सा जा रहा है. फिर वह उसके पुत्रको कुठीलेसे बाहर निकाल कर दिखाने लगी.

तथा चोक्तम्,—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

जैसा कहा है—स्त्रियोंका आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, साहस छःगुणा और उनका काम आठगुणा कहा है ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—"उत्पन्नेष्वपि कार्येषु" इत्यादि।' करटको ब्रूते-'अस्त्वेवम्। किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः?'

इसलिये मैं कहता हूं-"कार्यके उत्पन्न होनेमेंभी" इत्यादि।' करटक बोला-'ऐसाही होय, परन्तु इन दोनोंका आपसमें स्वभावसे बढ़ा हुआ बड़ा स्नेह कैसे छुड़ाया जा सकता है?'

दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम्। तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥ १२० ॥

दमनक बोला-'उपाय करो। जैसा कहा है कि—जो उपायसे हो सकता है वह पराक्रमसे नहीं हो सकता है. जैसे कागलीने सोनेके हारसे काले सांपको मार डाला' ॥ १२० ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा-'यह कथा कैसी है?' दमनक कहने लगा।—

कथा ८

[कौएका जोडा और काले साँपकी कहानी ८]

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदंपती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह—'नाथ ! त्यज्यतामयं तरुः। अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः संततिः सततं भक्ष्यते।

किसी वृक्ष पर काग और कागली रहा करते थे. उनके बच्चे उसके खोडरमें रहने वाला काला सांप खाता था। पीछे फिर गर्भवती कागली कागसे कहने लगी-'हे स्वामी ! इस पेडको छोडो, इसमें रहने वाला काला साँप हमारे बच्चे सर्वदा खा जाया करता है।

यतः,—

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥ १२१॥

क्योंकि—दुष्ट स्त्री, धूर्त मित्र, उत्तर देने वाला सेवक, सर्प वाले घरमें रहना, मानो साक्षात् मृत्युही है, इसमें संदेह नहीं है॥ १२१॥

वायसो ब्रूते-'प्रिये ! न भेतव्यम्। वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः। इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः'। वायस्याह—'कथमेतेन बलवता सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः?'। वायसो ब्रूते—'अलमनया शङ्कया।

काग बोला-'प्यारी ! डरना नहीं चाहिये, वार वार मैंने इसका अपराध सहा है अब फिर क्षमा नहीं करूंगा।' कागली बोली-'किस प्रकार ऐसे बलवान्के साथ तुम लड सकते हो ?' काग बोला-'यह शंका मत करो।

यतः,—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्?।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः'॥ १२२॥

क्योंकि—जिसको बुद्धि है उसको बल है और जो निर्बुद्धि है उसको बल कहांसे आवे ? देख, मदसे उन्मत्त सिंहको शशकने मार डाला'॥ १२२॥

वायसी विहस्याह—'कथमेतत्?'। वायसः कथयति—

कागली हँस कर बोली-'यह कथा कैसे है ?' तब काग कहने लगा।—

कथा ९

[सिंह और बूढे गीदड़की कहानी ९]

'अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः। स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते। ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र! किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते? यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत्। ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचिद्वृद्धशशकस्य वारः समायातः।

'मन्दर नाम पर्वत पर दुर्दान्त नाम एक सिंह रहता था और वह सदा पशुओंका वध करता रहता था. तब सब पशुओंने मिल कर उस सिंहसे बिनति की 'सिंह! एकसाथ बहुतसे पशुओंकी क्यों हत्या करते हो? जो प्रसन्न हो तो हमही तुम्हारे भोजनके लिये नित्य एक एक पशुको भिजवा दिया करेंगे।' फिर सिंहने कहा–'जो यह तुमको इष्ट है तो योंही सही.' उस दिनसे निश्चित किये हुए एक एक पशुको खाया करता था। फिर एक दिन एक बूढे शशक (खरगोश–) की बारी आई.

सोऽचिन्तयत्—

'त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे?॥ १२३॥

वह सोचने लगा—'जीनेकी आशासे भयके कारणकी अर्थात् मारने वालेकी विनय की जाती है और जब मरनाही ठहरा, फिर मुझे सिंहकी बिनतीसे क्या काम है?॥ १२३॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमुवाच–'कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि?'। शशकोऽब्रवीत्—'देव! नाहमपराधी। आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि।' सिंहः सकोपमाह—'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय, क्व स दुरात्मा तिष्ठति?।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा

गभीरकूपं दर्शयितुं गतः। तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान्. ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"बुद्धिर्यस्य" इत्यादि'॥ वायस्याह—'श्रुतं मया सर्वम्। संप्रति यथा कर्तव्यं तद्ब्रूहि।' वायसोऽवदत्—'अभ्यासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति। स्नानसमये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन्कोटरे धारयिष्यसि।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि॥' करटको ब्रूते—'यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते सन्तु पन्थानः।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—'देव! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि।

इसलिये धीरे धीरे चलता हूं. पीछे सिंहभी भूखके मारे झुंझला कर उससे बोला-'तू किसलिये देर करके आया है? शशक बोला-'महाराज! मैं अपराधी नहीं हूं, मार्गमें आते हुए मुझको दूसरे सिंहने बलसे पकड लिया था। उसके सामने फिर लौट आनेकी सौगन्द खा कर स्वामीको जतानेके लिये यहां आया हूं.' सिंह क्रोधयुक्त हो कर बोला-'शीघ्र चल कर दुष्टको दिखला कि वह दुष्ट कहां बैठा है.' फिर शशक उसे साथ ले कर एक गहरा कुआ दिखलानेको ले गया। वहां पहुंच कर "स्वामी! आपही देख लीजिये" यह कह कर उस कुएके जलमें उसी सिंहकी परछांही दिखला दी. फिर वह क्रोधसे दहाड कर घमंडसे उसके ऊपर अपनेको गिरा कर मर गया। इसलिये मैं कहता हूं-"जिसकी बुद्धि है" इत्यादि।' कागली बोली-'मैंने सब सुन लिया. अब जो करना है सो कहो।' फिर काग बोला-'यहां पासही सरोवरमें राजपुत्र नित्य आ कर स्नान करता है। स्नानके समय उसके अंगसे उतार कर घाट पर धरे हुए सोनेके हारको चोंचसे पकड इस बिलेमें ला कर धर दीजियो।' पीछे एक दिन राजपुत्रके नहानेके लिये जलमें उतरने पर कागलीने वही किया. फिर सोनेके हारके पीछे

ढूंढ खखोल करने वाले राजाके पुरुषोंने उस वृक्षके बिलमें काले सांपको देखा और मार डाला. इसलिये मैं कहता हूं–"उपायसे जो हो सकता है" इत्यादि–' करटक बोला–'जो ऐसा है तो चले जाओ, तुमारे मार्ग कल्याणकारी हो।' पीछे दमनक पिंगलकके पास जा कर प्रणाम करके बोला–'महाराज ! नाशकारी और बड़े भयके करने वाले किसी कामको जान कर आया हूं.

यतः,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥ १२४ ॥

क्योंकि—आपत्तिमें, कुमार्गसे जाने पर, कामका समय बीतनेमें हितकारी मनुष्यको बिना पूछेभी कल्याणकारी बात कह देना चाहिये ॥ १२४ ॥

अन्यच्च,—

भोगस्य भाजनं राजा, न राजा कार्यभाजनम् ।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

और दूसरे–राजा भोगका पात्र है अर्थात् सुख भोगनेके लिये है, कुछ काम करनेके लिये नहीं है, राजाके कार्यको नाश करने (बिगाडने) वाला मंत्रीही दोषभागी होता है ॥ १२५ ॥

तथा हि पश्य । अमात्यानामेष क्रमः,—

और देखो, मंत्रियोंकी यह रीति है,—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्तनम् ।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्' ॥ १२६ ॥

प्राणका त्याग और शिरका कट जानाभी अच्छा है परन्तु राजाको राज्य-हरणरूपी पातक करने वालेको दंड न देना अच्छा नहीं है ॥ १२६ ॥

पिङ्गलकः सादरमाह—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति?'। दमनको ब्रूते—'देव ! संजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्संनिधाने श्रीमद्देवपादानां शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं साश्चर्यं मत्वा तूष्णीं स्थितः । दमनकः पुनराह—'देव ! सर्वामात्यपरित्यागं कृत्वैक एवायं यत्त्वया सर्वाधिकारी कृतः स एव दोषः ।

पिंगलकने आदरसे कहा–'तू क्या कहना चाहता है?' दमनकने कहा–यह संजीवक तुमारे ऊपर अयोग्य काम करने वाला-सा दीखाता है और मेरे सामने महाराजकी तीनों [1]शक्तियोंकी निन्दा करके राज्यकोही छीनना चाहता है ॥ यह सुन कर पिंगलक भय और आश्चर्यसे मान कर चुप हो गया ॥ दमनक फिर बोला–'महाराज! सब मंत्रियोंको छोड़ कर एक इसीको जो तुमने सर्वाधिकारी (सब कामका अधिकारी) बना रक्खा है वही दोष है ॥

यतः,—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

क्योंकि—राजलक्ष्मी राजाके तथा मंत्रीके अधिक उन्नति पाने पर चरणोंमें गिर कर (दोनोंकी) सेवा करती है और फिर स्त्रीके स्वभावसे उन दोनोंके भारको नहीं सहन करती हुई दोनोंमेंसे एकको छोड़ देती है ॥ १२७ ॥

अपरं च,—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ।
निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥ १२८ ॥

और दूसरे–जब राजा राज्य पर एक मंत्रीको (सब कामका अधिकारी) मुखिया कर देता है तब उसे अभिमानसे मद हो जाता है और मदान्धताके आलस्यसे आपसमें फूट हो जाती है और फिर फूट होनेसे उसके हृदयमें स्वतन्त्रताका अभिलाष होता है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होना चाहता है, और फिर स्वातन्त्र्यके लाभकी इच्छासे वह मंत्री राजाके प्राण लेने तक की शत्रुता करता है ॥ १२८ ॥

अन्यच्च,—

विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

---

१ प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति.

और [illegible] हिलते हुए दांतको, और दुष्ट मंत्रीको जड़से उखाड़ डालनाही सुख है ॥ १२९ ॥

किंच,—

> यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
> सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत् संचारकैर्विना ॥ १३० ॥

और जो राजा, लक्ष्मीको मंत्रीके आधीन कर देता है वह राजा उस मन्त्रीके मरण आदि विपत्तिमें गिरने पर चलाने वालेके विना, अंधेके समान दुःख पाता है ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति ।

और सब कार्योंमें अपनी इच्छापूर्वक करता है, इसलिये इसमें स्वामी प्रमाण हैं अर्थात् रुचे सो कीजिये, और आप यह जानते हैं—

> न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
> परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ?' ॥ १३१ ॥

संसारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो लक्ष्मीको न चाहता हो, पराई जवान और सुन्दर स्त्रीको चावसे, कौन नहीं देखता है ? अर्थात् सब देखते हैं॥१३१॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि संजीवकेन सह मम महान् स्नेहः ।

सिंहने विचार कर कहा—'हे शुभचिंतक ! जो ऐसाभी है तोभी संजीवकके साथ मेरा अत्यन्त स्नेह है ।

पश्य,—

> कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
> अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ? ॥ १३२ ॥

देख—बुराइयां करता हुआभी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, जैसे बहुतसे दोषोंसे दूषित भी शरीर किसको प्यारा नहीं है ? ॥ १३२ ॥

अन्यच्च,—

> अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
> दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः ?' ॥ १३३ ॥

और दूसरे—अप्रिय करने वाला भी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, जैसे सुन्दर मन्दिरको जलाने वाली भी अग्निमें किसका आदर नहीं होता है?' १३३

दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवातिदोषः ।

दमनक फिरभी कहने लगा—'हे महाराज ! वही अधिक दोष है;

यतः,—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ १३४ ॥

क्योंकि—पुत्र, मंत्री तथा साधारण मनुष्य इनमेंसे जिसके ऊपर राजा अधिक दृष्टि करता है लक्ष्मी उसी पुरुषकी सेवा करती है ॥ १३४ ॥

शृणु देव !—

महाराज ! सुनिये,—

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र संपदः ॥ १३५ ॥

अप्रियभी, हितकारी वस्तुका परिणाम अच्छा होता है, और जहां अच्छा उपदेशक और अच्छे उपदेशका सुनने वाला हो वहां सब संपत्तियां रमण करती हैं ॥ १३५ ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चानुचितं कृतम् ।

और आपने पुराने सेवकोंको छोड़ कर इस नये आये हुएका सत्कार किया, यहभी अनुचित किया.

यतः,—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रति मानयेत् ।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः' ॥ १३६ ॥

क्योंकि—पुराने सेवकोंको छोड़ कर नये आये हुओंका सत्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे बढ़ कर कोई दोष राज्यमें फूट करने वाला नहीं है.' १३६

सिंहो ब्रूते—'महदाश्चर्यम् । मया यदभयवाचं दत्त्वानीतः संवर्धितश्च । तत्कथं मह्यं द्रुह्यति ? ।'

सिंह बोला-'बड़ा आश्चर्य है ! मैं जिसे अभय वाचा दे कर लाया और उसको बढ़ाया सो मुझसे क्यों वैर करता है ?'

दमनको ब्रूते—देव !

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ १३७ ॥

दमनक बोला–'महाराज ! जैसे मली गई और तैल आदि लगानेसे सीधी करी गई कुत्तेकी पूंछ सीधी नहीं होती है वैसेही दुर्जन नित्य आदर करनेसेभी सीधा नहीं होता है ॥ १३७ ॥

अपरं च,—

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ १३८ ॥

और दूसरे–तपाई गई, मली गई, डोरीसे लपेटी गई और बारह बरसके बाद खोली गई कुत्तेकी पूंछ टेढ़ीही रहती है ॥ १३८ ॥

अन्यच्च,—

वर्धनं वाथ सन्मानं खलानां प्रीतये कुतः ? ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ १३९ ॥

(और धन आदि दे कर) बढ़ाना अथवा सन्मान करना दुष्टोंकी प्रसन्नताके लिये कहां हो सकता है ? अर्थात् उपकार करने पर भी वे बुराईही करेंगे ! जैसे विषके वृक्ष अमृतसे सीचनेसेभी मीठे फल नहीं देते हैं ॥ १३९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १४० ॥

इस लिये मैं कहता हूं कि–जिसके पराजयकी इच्छा न करे उसके विना पूछेभी हितकारक वचन कहना चाहिये, क्योंकि यही सज्जनोंका धर्म है और इसके विपरीत अधर्म है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्,—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री याऽनुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ १४१ ॥

जैसा कहा है कि–जो विपत्तिसे बचाता है वही स्नेही है, जो निर्मल अर्थात् दोषरहित है वही कर्म है, जो (पतिकी) आज्ञामें चले वही स्त्री है, जिसका सज्जन आदर करे वही बुद्धिमान् है, जो अहंकारको उत्पन्न न करे वही संपत्ति है, जो तृष्णाके रहित है वही सुखी है, जो निष्कपट है वही मित्र है और जो इन्द्रियोंके वशमें नहीं है वही पुरुष है ॥ १४१ ॥

यदि संजीवकव्यसनार्दितो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदीदृशि भृत्ये न दोषः ।

और जो संजीवकके स्नेहमें फँसे हुए स्वामी जताने पर भी न मानें तो मुझसे सेवक पर दोष नहीं है ॥

तथा च,—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव ।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम्' ॥ १४२ ॥

और भी कहा है कि–भोगमें आसक्त राजा कार्यको और हितकारी वचनको नहीं गिनता है और मत वाले हाथीकी तरह अपनी इच्छानुसार जो अच्छा लगता है सो करता है; और फिर घमंडके मारे जब शोकमें अर्थात् भारी आपत्तिमें गिरता है तब सेवक पर दोष पटकता है और अपने बुरे आचरणको नहीं जानता है ॥ १४२ ॥

पिङ्गलकः (स्वगतम्),—

'न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत् ।
आत्मनावगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा ॥ १४३ ॥

पिंगलक (अपने मनमें सोचने लगा) कि, 'किसीके बहकानेसे दूसरोंको दंड न देना चाहिये परन्तु अपने आप जान कर उसे मारे या सन्मान करे ॥१४३॥

तथा चोक्तम्,—

गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे ।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः' ॥ १४४ ॥

जैसा कहा है कि–घमंडसे अपने नाशके लिये सर्पके मुखमें उंगली देनेके समान गुण और दोषको विना निश्चय करे आदर करनेकी अथवा दंड देनेकी रीति नहीं है' ॥ १४४ ॥

प्रकाशं भूत्वा—तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्?' । दमनकः ससंभ्रममाह—'देव ! मा मैवम् । एतावता मन्त्रभेदो जायते ।

(प्रकट बोला) तो संजीवकको क्या उपदेश करना चाहिये?' दमनकने घबरा कर कहा-'महाराज ! ऐसा नहीं; इससे गुप्त बात खुल जाती है ॥

तथा ह्युक्तम्,—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

औरभी कहा है—इस गुप्त मंत्ररूपी बीजकी जिस किसी प्रकारसे रक्षा करे और थोड़ाभी न फूटने दे, क्योंकि वह फूटा हुआ नहीं उगता है, अर्थात् रहस्यको गुप्त रक्खे; क्योंकि वह खोलनेसे सफल (कार्य-साधक) नहीं होता है ॥१४५॥

किंच,—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १४६ ॥

और लेना देना और करनेका काम ये शीघ्र नहीं किये जायँ तो इनका रस समय पी लेता है, अर्थात् समय पर चूक जानेसे काम बिगड़ जाता है ॥१४६॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन संपादनीयम् ।

इसलिये अवश्य आरंभ किये हुए कामको बड़े यत्नसे सिद्ध करना चाहिये.

किंच,—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १४७ ॥

क्योंकि,—जैसे कवच आदिसे ढंके हुए अंग वाला भी डरपोक योद्धा पराजयके भयसे युद्धमें बहुत देर तक नहीं ठहर सकता है वैसेही उपाय आदि सब अंगोंसे गुप्त विचार भी दूसरे शत्रुओंके भेदकी शंकासे बहुत काल तक गुप्त नहीं रहता है, अर्थात् प्रकट हो जाता है, और रहस्यके खुल जाने पर कार्यहानि होती है ॥ १४७ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य संधातव्यस्तदतीवानुचितम् ।

जो इसका दोष देख लेने पर भी दोषको दूर कर फिर मेल करना तो औरभी अनुचित है;

यतः,—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्रं पुनः संधातुमिच्छति ।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा' ॥ १४८ ॥

क्योंकि,—जो मनुष्य एक बार दुष्टपना किये हुए मित्रके साथ फिर मेल करना चाहता है वह मृत्युको ऐसे बुलाता है जैसे अश्वतरी गर्भको' ॥ १४८ ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायतां तवत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः ?' दमनक आह—'देव !

सिंह बोला–'पहले यह तो समझलो कि वह हमारा क्या कर सकता है ?' दमनकने कहा–'महाराज !

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ? ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ॥ १४९ ॥

शरीरको और शरीरधारीके कामको विना जाने कैसे सामर्थ्यका निर्णय हो सकता है ? देखो, केवल एक टिटहरीने समुद्रको व्याकुल कर दिया' ॥ १४९ ॥

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । दमनकः कथयति—

सिंह पूछने लगा–'यह कथा कैसे है ?' दमनक कहने लगा ।—

कथा १०

[टिटहरीका जोडा और समुद्रकी कहानी १०]

'दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदंपती निवसतः । तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह—'नाथ ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसंधीयताम् ।' टिट्टिभोऽवदत्—भार्ये ! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम् ।' सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत् ।' टिट्टिभोऽवदत्—'किमहं निर्बलः समुद्रेण निग्रहीतव्यः ?' । टिट्टिभी विहस्याह—'स्वामिन् ! त्वया समुद्रेण च महदन्तरम् ।

'दक्षिण समुद्रके तीर पर टिटहरीका जोडा रहता था । और वहाँ पूरे गर्भ वाली टिटहरीने अपने पतिसे कहा–'स्वामी ! प्रसवके अर्थात् अंडे धरनेके योग्य एकांत स्थान ढूंढना चाहिये ।' टिटहरा बोला—'प्रिये ! सचमुच यही स्थान अंडे धरनेके लिये अच्छा है ।' वह कहने लगी–'इस स्थानमें समुद्रकी तरंग

---

१ अश्वतरी एक प्रकारकी खचर गधी होती है. उसका बच्चा पेट फाड कर निकलता है और वह मर जाती है.

[illegible] बलमें कम हूँ सो यह मुझे दुःख देगा ?' टिटहरी हँस कर बोली–'स्वामी ! तुममें और समुद्रमें बड़ा अन्तर है;

अथवा,—

परा‍भवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः ।
अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति ॥ १५० ॥

अथवा,-इस संसारमें पराभवको निर्णय करनेके लिये जो योग्य और अयोग्य जानता है और जिसको अपने बलाबलका पूर्ण ज्ञान है वह विपत्तिमेंभी दुःख नहीं भोगता है ॥ १५० ॥

अपि च,—

अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसि स्पर्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि' ॥ १५१ ॥

और दूसरे-अनुचित कामका आरंभ, अपने इष्ट मित्रोंसे विरोध, बलवान्से बराबरी की इच्छा, और स्त्रियों पर विश्वास ये चार मृत्युके द्वार (मार्ग) हैं' ॥ १५१ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता । एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि । ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह—'नाथ ! कष्टमापतितम् । तान्यण्डानि मे नष्टानि ।' टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये ! मा भैषीः ।' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—'देव ! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवन्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि-"अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा" इत्यादि' ॥ राजाह—'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ?' । दमनको ब्रूते—'यदासौ सदर्पः श‍ृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा संजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च

मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्—'भद्र ! कुशलं ते ?' । दमनको ब्रूते—'अनुजीविनां कुतः कुशलम् ?

फिर कष्टसे स्वामीके कहनेसे उस टिटहरीने वहाँही अंडे धरे। यह सब सुन कर समुद्रभी उसकी सामर्थ्य टटोलनेके लिये उसके अंडे बहा ले गया. तब टिटहरी शोकसे खिन्न हो कर पतिसे कहने लगी-'हे स्वामी ! बड़ा कष्ट आ पड़ा, वे मेरे अंडे नष्ट हो गये।' टिटहरा बोला-'प्यारी ! डर मत।' ऐसा कह कर और सब पक्षियोंको साथ ले कर वह पक्षियोंके स्वामी गरुडजीके पास गया। वहाँ जा कर टिटहरेने सब समाचार भगवान् गरुडजीके सामने निवेदन कर दिया कि—'हे महाराज ! समुद्रने मुझ अपने घर बैठे हुएको बिना अपराधही सताया है।' तब उसकी बात सुन कर गरुडजीने सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण प्रभु भगवान् नारायणको जता दिया। उन्होंने समुद्रको अंडे देनेकी आज्ञा दे दी। तब भगवान्की आज्ञाको सिर पर रख कर समुद्रने उन अंडोंको टिटहरेको सोंप दिया। इसलिये मैं कहता हूं-"शरीर और शरीरधारीके कामको बिना जाने" इत्यादि।' राजा बोला-'यह कैसे जाना जाय कि वह द्रोह करने लगा है ?' दमनकने कहा—'जब वह घमंडसे सींगोंकी नोंकको मारनेके लिये सामने करता हुआ निडर-सा आवे तब स्वामी आपही जान जायँगे।' इस प्रकार कह कर संजीवकके पास गया और वहाँ जा कर धीरे धीरे पास खिसकता खिसकता अपनेको मन मलीन-सा दिखाया। संजीवकने आदरसे कहा-'मित्र ! कुशल तो है ?' दमनकने कहा-'सेवकोंको कुशल कहाँ ?

यतः,—

संपत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ १५२ ॥

क्योंकि,—जो राजाके सेवक हैं उनकी संपत्तियाँ पराधीन, मन सदा दुःखी और तो क्या युद्ध इत्यादिकी शंकासे वे अपने जीनेकाभी भरोसा नहीं रखते हैं ॥ १५२ ॥

अन्यच्च,—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिणः, कस्यापदोऽस्तं गताः ?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः, को वाऽस्ति राज्ञां प्रियः ?।

कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः, कोऽर्थी गतो गौरवं ?
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥ १५३ ॥

और दूसरे—कौनसा मनुष्य धनको पा कर अहंकारी नहीं होता है ? किस कामीको आपत्तियाँ नहीं घेरती हैं ? स्त्रियोंने किसका मन नहीं डिगाया ? राजाओंका कौन प्यारा है ? कौनसा मनुष्य कालकी भुजाओंके बीचमें नहीं गया ? कौनसे याचकका सन्मान हुआ है ? और कौनसा पुरुष दुर्जनोंके कपटमें पड़ कर सकुशल आया है ? ॥ १५३ ॥

संजीवकेनोक्तम्—'सखे ! ब्रूहि किमेतत् ?' । दमनक आह–'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः ?

संजीवकने कहा—'मित्र ! कहो तो यह क्या बात है ?' दमनकने कहा—'मैं मंदभागी क्या कहूँ ?

पश्य,—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि संप्रति ॥ १५४ ॥

देखो,–जैसे समुद्रमें डूबता हुआ भी मनुष्य सर्पका सहारा पा कर न तो छोड़ सकता है न पकड़ सकता है वैसाही इस समय मैं मूढ़ हूँ, याने कुछ समझ नहीं सकता हूँ कि क्या करूँ ॥ १५४ ॥

यतः,—

एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
किं करोमि क गच्छामि पतितो दुःखसागरे' ॥ १५५ ॥

क्योंकि एक तरफ राजाका विश्वास और दूसरी तरफ बान्धवका विनाश होना क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? इस दुःखसागरमें पड़ा हूँ ॥ १५५ ॥

इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । संजीवको ब्रूते–'मित्र ! तथापि सविस्तरं मनोगतमुच्यताम् ।' दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः । मया परलोकार्थिनावश्यं तव हितमाख्येयम् । शृणु । अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्–'संजीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि ।' एतच्छ्रुत्वा संजीवकः परं विषादमगमत् । दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन । प्राप्तकाल-

कार्यमनुष्ठीयताम् ।' संजीवकः क्षणं विमृश्याह स्वगतम्—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते । किं वा दुर्जनचेष्टितं न वेत्येतद्व्यवहारान्निर्णेतुं न शक्यते ।

यह कह कर लंबी सांस भर कर बैठ गया। तब संजीवकने कहा–'मित्र ! तोभी सब विस्तारपूर्वक मनकी बात कहो। दमनकने बहुत छिपाते २ कहा–'यद्यपि राजाका गुप्त विचार नहीं कहना चाहिये तोभी तुम मेरे भरोसेसे आये हो।–अत एव मुझे परलोककी अभिलाषाके डरसे अवश्य तुम्हारे हितकी बात कहनी चाहिये। सुनो, तुमारे ऊपर क्रोधित इस स्वामीने एकांतमें कहा है कि संजीवकको मार कर अपने परिवारको दूँगा।' यह सुनतेही संजीवकको बड़ा विषाद हुआ। फिर दमनक बोला–'विषाद मत करो, अवसरके अनुसार काम करो.' संजीवक छिन भर चित्तमें विचार कर कहने लगा–'निश्चय यह ठीक कहता है; अथवा दुर्जनका यह काम है अथवा नहीं है, यह व्यवहारसे निर्णय नहीं हो सकता है.

यतः,—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

क्योंकि—स्त्रियाँ दुर्जनोंके पास जाती हैं, बहुधा राजा कुपात्रोंका पालन करता है, धन कृपणके पास जाता है और इन्द्र पहाड़ और समुद्रमें बरसाता है ॥१५६॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

कोई २ दुर्जन (अपना) आश्रयकी सुन्दरतासे, सुन्दर स्त्रियोंके नेत्रोंमें आँजा हुआ मैला काजलके समान, शोभा पाता है ॥ १५७ ॥

तत्र विचिन्त्योक्तम्—'कष्टं किमिदमापतितम् ? ।

उसने विचार कर कहा–'यह क्या कष्ट आ पड़ा ? ।

यतः,—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना-
न्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ? ।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो
यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

क्योंकि—राजा बड़े यत्नसे सेवा करने पर भी प्रसन्न नहीं होता है इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि यह एक अनोखीही देवताकी मूर्ति है जो सेवा करने पर भी शत्रुता करती है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः ।

इस लिये इस बातका कुछ भेद नहीं जाना जाता है ।

पश्य,—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ? ॥ १५९ ॥

देखो—जो निश्चय करके किसी कारणसे क्रोध करता है वह उस कारणके नाश हो जाने पर अवश्य प्रसन्न हो जाता है, पर जिसका मन विना कारणके वैर करने लगा है उसको मनुष्य कैसे प्रसन्न कर सकता है ? ॥ १५९ ॥

किं मयापकृतं राज्ञः ? अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः ।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत् , शृणु—

और मैंने राजाका क्या अपकार किया ? अथवा, राजा लोग विनाही कारण अपकार करने वाले होते हैं ?' । दमनक बोला–'यह योंही है । सुनो,—

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।
चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १६० ॥

कोई कोई मनुष्य पण्डितोंसे तथा मित्रोंसे उपकार किये जाने पर भी शत्रुता करता है, और शत्रुओंसे प्रत्यक्षमें अपकार किये जाने पर भी प्रसन्न होता है । अव्यवस्थित चित्त वाले पुरुषोंका चरित्र बड़ा अद्भुत है और सेवाका काम योगियोंसेभी बड़े कष्टसे हो सकता है ॥ १६० ॥

अन्यच्च,—

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥ १६१ ॥

और दूसरे-दुष्टोंके विषयमें सैंकड़ों उपकार नष्ट हो जाते हैं, मूर्खोके सामने सैंकड़ों अच्छे २ उपदेश नष्ट हो जाते हैं, हितके वचनको नहीं मानने वालेके सामने सैंकड़ों वचन नष्ट हो जाते हैं, और महामूर्खके सामने सैंकड़ों बुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ १६१ ॥

किं च,—

चन्दनतरुषु भुजंगा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ॥ १६२ ॥

और चन्दनके वृक्षों पर सर्प, जलमें कमल और उसीमें मगर आदि होते हैं, और राजादि अथवा विषयके भोगमें गुणके नाश करने वाले दुर्जन लोग होते हैं; इसीलिये सुख विघ्नरहित नहीं है ॥ १६२ ॥

अन्यच्च,—

मूलं भुजंगैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६३ ॥

और दूसरे-जड़ सर्पोंसे, पुष्प भँवरोंसे, डालियाँ बन्दरोंसे और चोटी बर्छोंके समान पत्रोंसे, इस प्रकार चन्दनके वृक्षका ऐसा कोईसा भाग नहीं है जो दुष्ट जंतुओंसे न घिरा हो ॥ १६३ ॥

अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः ।

मुझे यह स्वामी वाणीमें मीठा और पेटका कपटी समझ पड़ा ।

यतः,—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।
अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः? ॥१६४॥

क्योंकि—दूरसे ऊँचे हाथ उठाना, प्रीतिसे रसीले नेत्र करना, आधा आसन बैठनेके लिये देना, अच्छे प्रकारसे मिलना, प्रिय कथाके पूछनेमें आदर करना, भीतर विषयुक्त अर्थात् कपटयुक्त और बाहरसे मीठी २ बातें करना यह जिसमें

हो और अत्यन्त मायासे भरा होना–यह कौनसा अपूर्व नाटकका व्यवहार है जो दुर्जनोंने सीखा है ! ॥ १६४ ॥

तथा हि,—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः' ॥ १६५ ॥

और–दुस्तर समुद्रके पार होनेके लिये नाव, अंधकारके आने पर दीपक, वायुरहित समयमें पंखा, और मद वाले हाथीका घमंड दूर करनेके लिये अंकुश–इस प्रकार इस संसारमें ब्रह्माने हरएक विषयके उपायकी चिंता नहीं की हो ऐसी बात नहीं है, पर मैं मानता हूँ कि दुर्जनोंके चित्तकी वृत्ति हरण(दूर) करनेमें विधाताभी उद्योगरहित (विफल-प्रयत्न) हो गया ॥ १६५ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य—'कष्टं भोः! कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः ?

संजीवक फिर साँस भर कर (बोला)—अरे ! बड़े कष्टकी बात है, कैसे सिंह मुझ घासके चरने वालेको मारेगा ?

यतः,—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १६६ ॥

क्योंकि-जिन दोनोंका समान वित्त और समानही बल हो, उन दोनोंका विरोध हो सकता है, किंतु सबल और निर्बलका तो कदापि नहीं होता है ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनायं राजा ममोपरि विकारितो न जाने । भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम् ।

(फिर सोच कर) किसने इस राजाको मुझसे क्रोधित करा दिया नहीं जानता हूँ । और, स्नेह छूटे राजासे सदा डरना चाहिये ।

---

१ कोई ग्रंथमें 'तयोर्विवादो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्' ऐसा पाठ है; वहां पर 'उनही दोनोंका वाद और स्नेह हो सकता है, उत्तम और अधमका नहीं' ऐसा अर्थ समझना.

यतः,—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः ? ॥ १६७ ॥

क्योंकि—किसी काममें मंत्रीसे फटे हुये राजाके चित्तको कांचकी चूड़ीके समान कौन जोड़नेको समर्थ हो सकता है ? अर्थात् वह सर्वथा अशक्य है ॥

अन्यच्च,—

वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत् समन्ततः ॥ १६८ ॥

और दूसरे, वज्र तथा राजाका तेज ये दोनों बड़े भयंकर हैं, एक अर्थात् वज्र तो एकही स्थानमें गिरता है, और दूसरा अर्थात् राजाका तेज, चारों तरफ फैलता है ॥ १६८ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमयुक्तम् ।
फिर संग्राममें मरनाही अच्छा है । अब उसकी आज्ञा मानना उचित नहीं है;

यतः,—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १६९ ॥

क्योंकि—शूर युद्धमें मर कर स्वर्ग पाता है अथवा जीता बचे तो शत्रुको मार कर सुख पाता है, इसलिये शूरोंके यह दोनोंही गुण बड़े दुर्लभ हैं ॥ १६९ ॥

युद्धकालश्चायम्,—

और यह लड़नेका समय है ।

यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः ।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७० ॥

जिस समय, युद्धके नहीं करनेमें मृत्युका होना निश्चय है, और युद्धमें जीनेका संदेह है, उसी कालको पण्डित लोग युद्धका समय कहते हैं ॥ १७० ॥

यतः,—

अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किंचिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७१ ॥

क्योंकि—जब चतुर मनुष्य विना युद्धसे कुछभी अपना हित न देखता है तब दुश्मनके साथ लड़ कर मर जाता है ॥ १७१ ॥

जये न लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गना ।
क्षणविध्वंसिनः कायः, का चिन्ता मरणे रणे?' ॥ १७२ ॥

और विजय होने पर स्वामित्व और मरने पर स्वर्ग मिलता है, और यह काया क्षणभंगुर है फिर संग्राममें मरनेकी क्या चिंता है?' ॥ १७२ ॥

एतच्चिन्तयित्वा संजीवक आह–'भो मित्र! कथमसौ मां जिघांसुर्ज्ञातव्यः?'। दमनको ब्रूते—'यदासौ पिङ्गलकः समुन्नतलाङ्गुल उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति तदा त्वमेव स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि।

यह सोच कर संजीवक बोला–'हे मित्र! वह मुझे मारने वाला कैसे समझ पड़ेगा?' तब दमनकने कहा–'जब यह पिंगलक पूंछ फटकार कर ऊंचे पंजे करके और मुख फाड़ कर देखे तब तुमभी अपना पराक्रम दिखलाना;

यतः,—

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम्?।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम् ॥ १७३ ॥

क्योंकि–तेजहीन बलवान्को कोनसा मनुष्य पराजय नहीं कर सकता है? अर्थात् सब कर सकते हैं। देखो, मनुष्य तेज(वह्नि)हीन राखके ढेरमें निडर हो कर पैर रखते हैं ॥ १७३ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्। नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम्?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः।' करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः?

परन्तु यह सब बात गुप्त ही रखने योग्य है। नहीं तो न तुम और न मैं' यह कह कर दमनक करटकके पास गया। तब करटकने पूछा–'क्या हुआ?' दमनकने कहा–'दोनोंके आपसमें फूट फैल गई।' करटक बोला–'इसमें क्या संदेह है?

यतः,—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः? ॥ १७४ ॥

क्योंकि—दुष्टोंका कोन बन्धु है? माँगनेसे कोन नहीं क्रोधित होता है? धन (पाने) से कौनसा मनुष्य घमंड नहीं करता है? और बुरा काम करनेमें कोनसा मनुष्य चतुर नहीं है? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च,—

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ?' ॥ १७५ ॥

और दूसरे-धूर्त मनुष्य अपनी बढ़तीके लिये धनवान्‌को दुराचारी कर देते हैं, इसलिये दुष्टोंका सहवास अग्निके समान क्या क्या नहीं करता है ? याने वह सब अनर्थोंकी जड़ है' ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव ! समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। संजीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार। ततस्तयोर्युद्धे संजीवकः सिंहेन व्यापादितः।

तब दमनकने पिंगलकके पास जा कर—'महाराज ! वह पापी आ पहुँचा है, इसलिये सम्हाल कर बैठ जाइये'—यह कह कर पहले जताए हुए आकारको करा दिया. संजीवकने भी आ कर वैसेही बदली हुई चेष्टा वाले सिंहको देख कर अपने योग्य पराक्रम किया। फिर उन दोनोंकी लड़ाईमें संजीवकको सिंहने मार डाला।

अथ संजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम् ?

पीछे सिंह, संजीवक सेवकको मार कर थका हुआ और शोकका-सा मारा बैठ गया। और बोला–'कैसा मैंने दुष्ट कर्म किया है ?

यतः,—

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥ १७६ ॥

क्योंकि—राजा, हाथीके मारनेसे सिंहके समान धर्मका उल्लंघन करनेसे आप केवल पापका भागी बनता है और राज्यका सुख तो दूसरेही भोगते हैं ॥ १७६ ॥

अपरं च,—

भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा, न भृत्याः'॥ १७७ ॥

और दूसरे-राज्यके एक टुकड़ेका और बुद्धिमान् तथा गुणवान् सेवकका इन दोनोंके नाशसे भी राजाओंको सेवकका नाश मरणके समान है, क्योंकि भूमि नष्ट हुईभी सहजमें मिल सकती है परन्तु सेवक नहीं मिल सकते हैं' ॥ १७७ ॥

दमनको ब्रूते—'स्वामिन् ! कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते ?

दमनक बोला—'स्वामी ! यह कोनसा नया न्याय है कि शत्रुको मार कर पछतावा करते हो ?

तथा चोक्तम्,—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ १७८ ॥

जैसा कहा है—संपत्तिको चाहने वाले राजाको प्राणका नाश करने वाला पिता हो, या भाई हो, पुत्र हो, अथवा मित्र हो, मार देना चाहिये ॥ १७८ ॥

अपि च,—

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
न हि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ॥ १७९ ॥

और भी-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनके सारको जानने वाले पुरुषको अत्यंत दयालु नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षमाशील पुरुष हाथ पर रक्खे हुए भी भोजनको नहीं खा सकता है ॥ १७९ ॥

किं च,—

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८० ॥

और-शत्रु तथा मित्र पर क्षमा करना केवल तपस्वियोंका ही भूषण है, और राजाओंका अपराध करने वाले प्राणियों पर क्षमा करना तो दूषणही है ॥१८०॥

अपरं च,—

राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम्।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम्॥ १८१॥

और दूसरे-राज्यके लोभसे अथवा अहंकारसे स्वामीके पदको चाहने वाले सेवकका, उस पापको नाश करनेमें प्राणोंका त्यागही एक प्रायश्चित्त है, और दूसरा कोई नहीं है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च,—

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति॥ १८२॥

और अत्यन्त दयालु राजा, सर्वभक्षी अर्थात् अत्यंत लोभी ब्राह्मण, अवश स्त्री, बुरी प्रकृति वाला सहायक, उत्तर देने वाला नोकर, असावधान अधिकारी, और पराये उपकारको नहीं मानने वाला—ये त्यागनेके योग्य हैं ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च,—

सत्यानृता सपरुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' ॥ १८३ ॥

और विशेष करके-राजाकी नीति, कभी सची, कभी झूठी, कभी कड़ी, कभी नरम, कभी हिंसा करने वाली, कभी दयालु, कभी धन लेने वाली, कभी उदार, कभी सदा व्यय करने वाली, कभी कनेक रत्न और धनको इकट्ठा करने वाली, वेश्याके समान बहुत प्रकारकी है' ॥ १८३ ॥

इति दमनकेन संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः। दमनकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः।

इस प्रकार जब दमनकने संतोष दिलाया तब पिंगलकका जीमें जी आया और सिंहासन पर बैठा। दमनक प्रसन्न चित्त हो कर "जय हो महाराजकी, सब संसारका कल्याण हो" यह कह कर आनन्दसे रहने लगा।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः ।' राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः । सुखिनो भूता वयम् ।'

विष्णुशर्मा बोले—'आपने सुहृद्भेद सुन लिया ?' राजकुमार बोले-'आपकी कृपासे सुना और हम बहुत सुखी हुए ।'

विष्णुशर्माऽब्रवीत्—'अपरमपीदमस्तु—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः ।
जनो नित्यं भूयात् सकलसुखसंपत्तिवसतिः
कथारामे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ॥ १८४ ॥

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः कथासंग्रहः समाप्तः ।

विष्णुशर्मा बोले-'यह औरभी हो-आपके शत्रुओंके घरमें मित्रोंमें फूट हो, दुष्ट जन कालके वशमें पड़ कर प्रतिदिन नष्ट हो, प्रजा आपके राज्यमें सदा सब सुख और संपत्तिकी खान हो, और इस रमणीय, हितोपदेशके नीतिकथारूपी उपवनमें बालक हमेशा रमण करें' ॥ १८४ ॥

पं० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रंथके सुहृद्भेद नामक दूसरे भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ. शुभम्.

हितोपदेशः

विग्रहः

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य! राजपुत्रा वयम्। तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'यदेव भवद्भ्यो रोचते कथयामि। विग्रहः श्रूयतां यस्यायमाद्यः श्लोकः—

फिर कथाके आरंभके समय राजपुत्रोंने कहा-'गुरुजी! हम राजकुमार हैं। इसलिये विग्रह सुननेकी इच्छा है।' विष्णुशर्माने कहा-'जो आपको अच्छा लगे वही कहता हूं। विग्रह सुनिये कि जिसका पहला वाक्य यह है—

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे' ॥ १॥

हंसोंके साथ मोरोंके तुल्य पराक्रमके युद्धमें कौओंने शत्रुके गढ़में रह कर और विश्वास उपजा कर हंसोंको ठगा' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत्?'। विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—'यह कहानी कैसे है?' विष्णुशर्मा कहने लगे—

कथा १

[राजहंस, मोर और उनके मन्त्री आदिकी कहानी १]

अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरपक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः।

कर्पूरद्वीपमें पद्मकेलि नाम एक सरोवर है, वहाँ हिरण्यगर्भ नाम एक राजहंस रहता था और सब जलचारी पक्षियोंने मिल कर उसे पक्षियोंके राज्य पर राज-तिलक किया था।

यतः,—

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २॥

क्योंकि—जो संसारमें अच्छा प्रजापालक राजा न हो तो प्रजा, सबकी कर्णधार (खेवटिये) से रहित नावके समान डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरं च,—

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम् ।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

और दूसरे–राजा प्रजाकी रक्षा करता है और वह (प्रजा) कर आदि दे कर राजाको बढ़ाती है, बढ़ानेसे रक्षा कल्याणकारी है, और रक्षाके विना सचमुच होनाभी नहीं होनेके समान है ॥ ३ ॥

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखासीनः परिवारपरिवृतस्तिष्ठति । ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः । राजोवाच–'दीर्घमुख ! देशान्तरादागतोऽसि । वार्तां कथय ।' स ब्रूते—'देव ! अस्ति महती वार्ता । तां वक्तुं सत्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम्,—अस्ति जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति । तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः पृष्टश्च—'कस्त्वम् ? कुतः समागतोऽसि ?' तदा मयोक्तम्—'कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहम् । कौतुकाद्देशान्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि ।' एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्–'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो राजा च ?' । मयोक्तम्—'आः ! किमेवमुच्यते ? महदन्तरम् । यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः । अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ ? अस्मद्देशे गम्यताम् ।' ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे सकोपा बभूवुः ।

एक दिन वह राजहंस सुन्दर बिछे हुए कमलके आसन पर सुखसे बैठा हुआ था और चारों तरफ उसका परिवार बैठा था । इसके बाद किसी देशसे आकर दीर्घमुख नाम बगुला प्रणाम करके बैठ गया । राजा बोला–'हे दीर्घमुख ! तू कोनसे प्रदेशसे आया है ? समाचार सुना ।' वह बोला–'महाराज ! एक बडी बात है । उसके सुनानेके लिये तुरंत मैं आया हूँ । सुनिये–जंबूद्वीपमें विंध्य नाम पहाड है । वहाँ चित्रवर्ण नाम मोर–पक्षियोंका राजा रहता है । उसके चुगते हुए

अनुचर पक्षियोंने मुझे दग्ध नाम वनमें चुगते देखा, और पूछा—'तू कौन है कहाँसे आया है ?' तब मैंने कहा—'कर्पूरद्वीपके चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ राजहंसका मैं अनुचर हूँ। अभिलाषासे नये देश देखनेको आया हूँ।' यह सुन कर पक्षियोंने कहा—'इन दोनों देशोंमेंसे कोनसा देश तथा राजा अच्छा है ?' मैंने कहा—'अजी! क्यों ऐसे कहते हो ? इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि कर्पूरद्वीप मानों स्वर्गही है, और राजहंस मानों दूसरा इन्द्र है। इस मारवाड़ देशमें पड़े हुए तुम क्या करते हो ? हमारे देशमें चलो।' तब मेरी बात सुन कर सब क्रोधित हो गये।

तथा चोक्तम्,—

पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥

जैसा कहा है कि—सांपोंको दूध पिलाना केवल जहरको बढाना है, मूर्खोंको उपदेश करना भी क्रोध बढानेके लिये है, शान्तिके लिये नहीं; अर्थात् सांपको दूध पिलाना जैसा विषको बढाने वाला है वैसाही मूर्खको किया हुआ उपदेश क्रोधको बढाने वाला है; शांति करने वाला नहीं ॥ ४ ॥

अन्यच्च,—

विद्वानेवोपदेष्टव्यो नाविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः' ॥ ५ ॥

और दूसरे—बुद्धिमान्कोही उपदेश करना चाहिये, मूर्खको कभी न करे, जैसे पक्षी बन्दरोंको उपदेश करनेसे स्थान छोड़ कर चले गये' ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?'। दीर्घमुखः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसे है ?' दीर्घमुख कहने लगा—

कथा २

[पक्षी और बंदरोंकी कहानी २]

'अस्ति नर्मदातीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणो निवसन्ति सुखेन। अथैकदा वर्षासु नीलपटलैरावृते नभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्बभूव। ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताकुलान् कम्पमानानवलोक्य कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः! शृणुत,—

नर्मदाके तीर पर एक बड़ा सेमरका वृक्ष है। उस पर पक्षी घोंसला बना कर उसके भीतर, सुखसे रहा करते थे। फिर एक दिने बरसादमें नीले नीले बादलों से आकाशमंडलके छा जाने पर बड़ी बड़ी बूँदोंसे मूसलधार मेघ बरसने लगा और फिर वृक्षके नीचे बैठे हुए बन्दरोंको ठंढीके मारे थर थर काँपते हुए देख कर पक्षियोंने दयासे विचार कहा—'अरे भाई बन्दरो! सुनो,—

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमिति सीदथ?' ॥ ६ ॥

हमने केवल अपनी चोंचोंसे इकठ्ठे किये हुए तिनकोंसे घोंसले बनाये हैं, और तुम तो हाथ, पाँव आदिसे युक्त हो कर फिर ऐसा दुःख क्यों भोगते हो?' ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जातामर्षैरालोचितम्—'अहो! निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति । भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः।' अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नास्तेषामण्डानि चाधः पातितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—"विद्वानेवोपदेष्टव्यः" इत्यादि।' राजोवाच-'ततस्तैः किं कृतम्?' बकः कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्—'केनासौ राजहंसो राजा कृतः?'। ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'युष्मदीयमयूरः केन राजा कृतः?' एतच्छ्रुत्वा ते सर्वे मां हन्तुमुद्यताः। ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः।

यह सुन बन्दरोने झुंझला कर विचारा—'अरे! पवनरहित घोंसलोंके भीतर बैठे हुए सुखी पक्षी हमारी निन्दा करते हैं, करने दो। जब तक वर्षा बंद हो बाद जब पानीका बरसना बंद हो गया तब उन बन्दरोंने पेड़ पर चढ़ कर सब घोंसले तोड़ डाले, और उन्होंके अंडे नीचे गिरा दिये, इसलिये मैं कहता हूँ—"बुद्धिमानकोही उपदेश करना चाहिये" इत्यादि।' राजा बोला-'तब उन्होंने क्या किया?' बगुला कहने लगा-फिर उन पक्षियोंने क्रोधसे कहा-'किसने इस राजहंसको राजा बनाया है?' तब मैंने झुंझला कर कहा-'तुम्हारे मोरको किसने राजा बनाया है?' यह सुन कर वे सब मुझे मारनेको तयार हुए। तब मैंनेभी अपना पराक्रम दिखाया।

यतः,—

'अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम् ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

क्योंकि-रतिकालको छोड़ कर स्त्रियोंको लज्जा जैसा अलंकार है वैसाही पराजयसे भिन्न समयमें पुरुष को क्षमा आभूषण है, और पराजयके समय, रतिकालमें स्त्रियोंको निर्लज्जताके समान, पराक्रमही प्रशंसाके योग्य हैं' ॥ ७ ॥

राजा विहस्याह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम् ।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८ ॥

राजा हँस कर बोला—'जो अपनी और शत्रुओंकी निर्बलता और सबलता विचार कर, अंतर नहीं जानता है उसका शत्रु तिरस्कार (पराजय) करते हैं; अर्थात् अपना और शत्रूका बलाबल जानना विद्वान्‌को अत्यावश्यक है ॥ ८ ॥

अन्यच्च,—

सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान् ।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषाद्गर्दभो हतः' ॥ ९ ॥

और दूसरे—जैसे अनाजके खेतमें बहुत दिन तक नित्य नाज चरता हुआ मूर्ख गधा बाघम्बर ओढ़े हुए वाणीके दोषसे अर्थात् रेंकनेसे मारा गया' ॥ ९ ॥

बकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । राजा कथयति—

बगुला पूछने लगा—'यह कथा कैसे है ?' राजा कहने लगा ।—

कथा ३

[बाघंबर ओढा हुआ धोबीका गधा और खेतवालेकी कहानी ३]

'अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य गर्दभोऽतिवाहनाद्दुर्बलो मुमूर्षुरिवाभवत् । ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे नियुक्तः । ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते । अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुः-

काण्डं सज्जीकृत्यावनतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद्दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो गर्दभोऽयमिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः। सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दान्निश्चित्य गर्दभोऽयमिति लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"सुचिरं हि चरन्नित्यम्" इत्यादि'॥ दीर्घमुखो ब्रूते—ततः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्ट बक! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि? तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा सकोपा ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः। तस्य राज्याधिकारो नास्ति। यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः स कथं पृथिवीं शास्ति? राज्यं वा तस्य किम्? किंतु त्वं च कूपमण्डूकः। तेन तदाश्रयमुपदिशसि।

'हस्तिनापुरमें एक विलास नाम धोबी रहता था। उसका गधा अधिक बोझ ढोनेसे दुबला मरासू-सा हो गया था। फिर उस धोबीने इसे बाघकी खाल ओढ़ा कर वनके पास नाजके खेतमें रख दिया। फिर दूरसे उसे देख कर और बाघ समझ, खेत वाले शीघ्र भाग जाते थे। इसके अनन्तर एक दिन कोई खेतका रखवाला धूसर रंगका कंबल ओढ़े हुए धनुष बाण चढ़ा कर शरीरको नौढ़ा कर एकांतमें बैठ गया। उधर मन माना अन्न चरनेसे बलवान, तथा संड़याया हुआ गधा उसे देख कर और गधा जान कर ढेंचू ढेंचू स्वरसे रेंकता हुआ उसके सामने दौड़ा। तब खेतवालेने, रेंकनेके शब्दसे इसको गधा निश्चय करके सहजमेंही मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ–"बहुत काल तक चरता हुआ" इत्यादि। दीर्घमुख बोला-फिर पक्षियोंने कहा–'अरे पापी दुष्ट बगुले! तू हमारी भूमिमें चुग कर हमारेही स्वामीकी निन्दा करता है? इसलिये अब क्षमा करनेके योग्य नहीं है।' यह कह कर सब मुझे चोंचोंसे मार कर क्रोधसे बोले–'अरे मूर्ख! देख, वह हंस तेरा राजा सब प्रकारसे भोला है, उसको राज्यका अधिकार नहीं है। क्योंकि निरा भोला हथेली पर धरे हुए धनकीभी रक्षा नहीं कर सकता है। वह कैसे पृथ्वीका राज्य करता है? अथवा उसका राज्यही क्या है? वरन तूभी कुएका मेंढक है। इसलिये उसके आश्रयका उपदेश करता है।

शृणु,—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।
यदि दैवात्फलं नास्ति छाया केन निवार्यते? ॥ १० ॥

सुन,—फल और छायासे युक्त बड़े वृक्षकी सेवा करनी चाहिये । जो भाग्यसे फल (प्राप्य) नहीं है तो छायाको कौन भला दूर कर सकता है ? ॥ १० ॥

अन्यच्च,—

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

और दूसरे—नीचकी सेवा नहीं करनी चाहिये, बडे पुरुषोंका आश्रय करना चाहिये, जैसे कलारिनके हाथमें दूधकोभी लोग वारुणी (शराब) समझते हैं ११

अन्यच्च,—

महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

और गुणहीनमें बड़ा गुणका कहना भी लघुताको प्राप्त होता है, जैसे आधार और आधेयभावसे दर्पणमें हाथीका प्रतिबिंब छोटा दीखता है ॥ १२ ॥

विशेषतश्च,—

व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १३ ॥

और विशेष करके राजाके सबल होने पर उसके छल(बहाने)सेभी कार्य सिद्ध हो जाता है । जैसे चन्द्रमाके छल(बहाने)से खरगोश सुखसे रहने लगे' ॥ १३ ॥

मयोक्तम्—'कथमेतत् ?' । पक्षिणः कथयन्ति—

मैंने कहा-'यह कथा कैसी है ?' पक्षी कहने लगे ।—

कथा ४

[हाथियोंका झुंड और बूढे शशककी कहानी ४]

'कदाचिदपि वर्षासु वृष्टेरभावात्तृषार्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय? नास्ति क्षुद्रजन्तूनां

---

१ जिसमें वस्तु रक्खी जाय. २ वस्तु.

निमज्जनस्थानम् । वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताही इव । किं कुर्मः ? क यामः ?' । ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान् । ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिता गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः क्षुद्रशशकाः ।' अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास—'अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम् । अतो विनश्यत्यस्मत्कुलम् ।' ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत । मयात्र प्रतीकारः कर्तव्यः ।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः । गच्छता च तेनालोचितम्—'कथं गजयूथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम् ?

किसी समय वर्षाके मोसममें वर्षा न होनेसे प्यासके मारे हाथियोंका झुंड अपने स्वामीसे कहने लगा—'हे स्वामी ! हमारे जीनेके लिये अब कौनसा उपाय है ? छोटे छोटे जन्तुओंको नहानेके लिये भी स्थान नहीं है । और हम तो स्नानके लिये स्थान न होनेसे मरेके समान हैं । क्या करें ? कहाँ जायँ ?' हाथियोंके राजाने समीपही जो एक निर्मल सरोवर था वहां जा कर दिखा दिया । फिर कुछ दिन बाद उस सरोवरके तीर पर रहने वाले छोटे छोटे शशक हाथियोंके पैरोंकी रेलपेलसे खुँद गये । पीछे शिलीमुख नाम शशक सोचने लगा—'प्यासके मारे यह हाथियोंका झुंड, यहाँ नित्य आवेगा, इसलिये हमारा कुल तो नष्ट हो जायगा'. फिर विजय नाम एक बूढ़े शशकने कहा—'खेद मत करो । मैं इसका उपाय करूँगा । फिर वह प्रतिज्ञा करके चला गया । और चलते चलते इसने सोचा—'कैसे हाथियोंके झुंडके पास खड़े हो कर बात चीत करनी चाहिये ?

यतः,—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजंगमः ।
पालयन्नपि भूपालः प्रहसन्नपि दुर्जनः ॥ १४ ॥

क्योंकि—हाथी (स्पर्शसेभी) छूताही, साँप सूंघताही, राजा रक्षा करता हुआभी, और दुर्जन हँसता हुआभी मार डालता है ॥ १४ ॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि ।' तथाऽनुष्ठिते यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम् ?, कुतः समायातः ?' । स ब्रूते—'शशकोऽहम् । भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेपितः ।' यूथपतिराह—'कार्यमुच्यताम् ।'

इसलिये मैं पहाड़की चोटी पर बैठ कर झुंडके स्वामीसे अच्छी प्रकारसे बोलूं। ऐसा करने पर झुंडका स्वामी बोला—'तू कौन है? कहाँसे आया है?' वह बोला—'मैं शशक हूँ। भगवान् चन्द्रमाने आपके पास भेजा है।' झुंडके स्वामीने कहा—'क्या काम है बोल।'

विजयो ब्रूते—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः॥ १५॥

विजय बोला—'मारनेके लिये शस्त्र उठाने पर भी दूत अनुचित नहीं करता है, क्योंकि सब कालमें नहीं मारे जानेसे (मृत्युकी भीति न होनेसे) वह निश्चय करके सच्ची ही बात बोलने वाला होता है॥ १५॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि। शृणु, यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे शशाङ्क इति प्रसिद्धिः।' एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधेहि। इदमज्ञानतः कृतम्। पुनर्न कर्तव्यम्।' दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य गच्छ।' ततो रात्रौ यूथपतिं नीत्वा जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा यूथपतिः प्रणामं कारितः। उक्तं च तेन—'देव! अज्ञानादनेनापराधः कृतः, ततः क्षम्यताम्। नैवं वारान्तरं विधास्यते' इत्युक्त्वा प्रस्थापितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्" इति। ततो मयोक्तम्—'स एवास्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्?' इति। तदाऽहं तैः पक्षिभिः 'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि?' इत्यभिधाय राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः। ततो राज्ञः पुरो मां

१ 'साधुर्वा यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः।
ब्रुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति' (सुं. का. ५२-२१)

भावार्थ यह है कि, दूत पराया (एवं दूसरेका आज्ञावश) होनेसे भला-बुरा बोलने पर भी वह सदैव अवध्य है.

प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्—'देव ! अवधीयतामेष दुष्टो बको यदस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति ।' राजाह—'कोऽयम् ? कुतः समायातः ?' । त ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ?' । अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्री ?' इति । मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।' गृध्रो ब्रूते—'युज्यते, स्वदेशजोऽसौ ।

इसलिये मैं उनकी आज्ञासे कहता हूँ । सुनिये, जो ये चन्द्रमाके सरोवरके रखवाले शशकोंको आपने निकाल दिया है यह अनुचित किया । वे शशक हमारे बहुत दिनसे रक्षित हैं इसीलिये मेरा नाम "शशांक" प्रसिद्ध है । दूतके ऐसा कहतेही हाथियोंका स्वामी भयसे यह बोला–'सोच लो, यह बात अनजानपन की है । फिर नहीं करूँगा ।' दूतने कहा–'जो ऐसा है तो इस सरोवरमें क्रोधसे काँपते हुए भगवान् चन्द्रमाजीको प्रणाम कर, और प्रसन्न करके चला जा । फिर रातको झुंडके स्वामीको ले जा कर और जलमें हिलते हुए चन्द्रमाके गोलेको दिखवा कर झुंडके स्वामीसे प्रणाम कराया और इसने कहा–'हे महाराज ! भूलसे इसने अपराध किया है इसलिये क्षमा कीजिये, फिर दूसरी बार नहीं करेगा', यह कह कर बिदा किया । इसलिये मैं कहता हूँ–"छलसेभी काम सिद्ध हो जाता है ।" फिर मैंने कहा–'वह हमारा स्वामी राजहंस तो बड़ा प्रतापी और अत्यन्त समर्थ है । तीनों लोककीभी प्रभुता उसके योग्य है, फिर यह राज्य क्या है ? तब वे पक्षी मुझे "हे दुष्ट ! हमारी भूमिमें क्यों बसता है ?" यह कह कर चित्रवर्ण राजाके पास ले गये । फिर राजाके सामने मुझे दिखला कर उन्होंने प्रणाम करके कहा–'महाराज ! ध्यान दे कर सुनिये । यह दुष्ट बगुला हमारे देशमें बसता हुआभी आपकी निन्दा करता है ।' राजा बोला–'यह कौन है ? कहाँसे आया है ?' वे कहने लगे–'हिरण्यगर्भ नाम राजहंसका अनुचर कर्पूरद्वीपसे आया है' । फिर गिद्ध मंत्रीने मुझसे पूछा–'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ?' मैंने कहा–'सब शास्त्रोंको पढ़ा हुआ सर्वज्ञ नाम चकवा है ।' गिद्ध बोला–ठीक है । वह स्वदेशी है;

यतः,—

स्वदेशजं कुलाचारं विशुद्धमुपधाशुचिम् ।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १६ ॥

क्योंकि—स्वदेशी, कुलकी रीतिमें निपुण, धर्मशील अर्थात् उत्कोच (रिश्वत) आदिको नहीं लेने वाला, विचार करनेमें चतुर, द्यूत, पान आदि व्यसन तथा व्यभिचारसे रहित ॥ १६ ॥

अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः' ॥ १७ ॥

युद्ध इत्यादि व्यवहारको जानने वाला, कुलीन, विख्यात पण्डित, धन उत्पन्न करने वाला ऐसेको राजा मंत्री बनावे' ॥ १७ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपाद्यो लघुद्वीपा जम्बुद्वीपान्तर्गता एव । तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्' । ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव ।

इस अवसरमें तोतेने कहा–'महाराज ! कर्पूरद्वीप आदि छोटे छोटे द्वीप जम्बूद्वीपकेही भीतर हैं और वहाँभी महाराजकाही राज्य है ।' राजाभी फिर बोला–'ऐसाही है;

यतः,—

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमादी धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १८ ॥

क्योंकि—राजा, विक्षिप्त, बालक, प्रमादी, धन का अहंकारी, ये दुर्लभ वस्तुकीभी इच्छा किया करते हैं, फिर जो मिल सकती है उसका तो कहनाही क्या है ? ॥ १८ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिध्यति तदा जम्बुद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः ?' । मयोक्तम्—'संग्राम एव ।' राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु । तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम् ।' राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? यत एवंभूतो दूतः कार्यः,–

फिर मैंने कहा कि, जो केवल कहनेसेही राज्य सिद्ध हो जाता है तो जम्बूद्वीपमेंभी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भका राज्य है ।' तोता बोला—'इसमें कैसे निर्णय हो ?' मैंने कहा—'संग्रामही है ।' राजाने हँस कर कहा–'अपने स्वामीको

जा कर तयार कर।' तब मैने कहा—'अपने दूतकोभी भेजिये।' राजाने कहा—'दूत बन कर कौन जायगा ? क्योंकि ऐसा दूत करना चाहिये;—

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ १९ ॥

भक्त अर्थात् राजाका हितकारी, गुणवान्, शुद्ध अर्थात् उत्कोच (रिशवत) आदि लाभरहित, कार्यमें चतुर, बोल-चालमें निपुण, द्यूत, पान आदि व्यसनसे रहित, क्षमाशील, ब्राह्मण, शत्रुके भेदको जानने वाला और बुद्धिमान् दूत होना चाहिये ॥ १९ ॥

गृध्रो वदति—'सन्त्येव दूता बहवः। किंतु ब्राह्मण एव कर्तव्यः।

सिद्ध बोला–'दूत तो बहुतसे हैं परन्तु ब्राह्मणकोही करना चाहिये।

यतः,—

प्रसादं कुरुते पत्युः संपत्तिं नाभिवाञ्छति।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसंगमात्' ॥ २० ॥

क्योंकि–वह स्वामीको प्रसन्न करता है और संपत्तिको नहीं चाहता है, और जैसे महादेवजीके संगसे विषका कालापन नहीं जाता है वैसेही इसकीभी प्रकृति नहीं बदलती है ॥ २० ॥

राजाह—'ततः शुक एव व्रजतु। शुक ! त्वमेवानेन सह गत्वास्मदभिलषितं ब्रूहि।' शुको ब्रूते—'यथाज्ञापयति देवः । किंत्वयं दुर्जनो बकः। तदनेन सह न गच्छामि ॥

राजा बोला–'फिर तोताही जाय; हे तोते! तूही इसके साथ वहाँ जा कर हमारा इष्ट (संदेशा) कह दे।' तोता बोला—'जो आज्ञा श्रीमहाराजकी। पर यह बगुला दुष्ट है। इसलिये इसके साथ नहीं जाऊँगा।

तथा चोक्तम्,—

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ २१ ॥

जैसा कहा है—दुष्ट जो बुराई करता है वह बुराई सचमुच साधुओं पर फलती (असर करती) है, अर्थात् उन्हें दुःख भुगतना पड़ता है। जैसे रावण सीताको हर ले गया पर समुद्र बाँधा गया ॥ २१ ॥

अपरं च,—

न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्तकः ॥ २२ ॥'

और दूसरे–दुष्टके साथ कभी न तो बैठना चाहिये और न जाना चाहिये, जैसे कौएके साथ रह कर हंस और उड़ता हुआ बटेर मारे गये' ॥ २२ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

राजा बोला–'यह कथा कैसे है ?' तोता कहने लगा ।—

कथा ५

[हंस, कौआ और एक मुसाफिरकी कहानी ५]

'अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः । तत्र हंसकाकौ निवसतः । कदाचिद्ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुः-काण्डं संनिधाय सुप्तः । तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद्वृक्षच्छायापगता । ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य तद्वृक्षस्थितेन हंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता । ततो निर्भरनिद्रासुखिना तेन मुखव्यादानं कृतम् । अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः । ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः ॥ वर्तककथामपि कथयामि—

'उज्जयिनीके मार्गमें एक पाकड़का पेड़ था । उस पर हंस और काग रहते थे। एक दिन गरमीके समय थका हुआ कोई मुसाफिर उस पेड़के नीचे धनुषबाण धरके सो गया । वहाँ थोड़ी देरमें उसके मुख परसे वृक्षकी छाया ढल गई । फिर सूर्यके तेजसे उसके मुखको तचका हुआ देख कर उस पेड़ पर बैठे हुए हंसने दया विचार पंखोंको पसार फिर उसके मुख पर छाया कर दी । फिर गहरी नींदके आनन्दसे उसने मुख फाड़ दिया । पीछे पराये सुखको नहीं सहने वाला वह काग दुष्ट स्वभावसे उसके मुखमें बीट करके उड़ गया । फिर जो उस बटोहीने उठ कर ऊपर जब देखा तब हंस दीख पड़ा, उसे बाण मारा उसे बाणसे मार दिया और वह मर गया ॥ मुसाफिरकी कथा भी कहता हूँ ।

कथा ६

[काक, मुसाफिर और एक ग्वालेकी कहानी ६]

एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसंगेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्तकश्चलितः। अथ गोपालस्य गच्छतो दधिभाण्डाद्वारंवारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते तावत्तेन काकवर्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन खेदितः काकः पलायितः। वर्तकः स्वभावनिरपराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"न स्थातव्यं न गन्तव्यम्" इत्यादि॥ ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्।

एक समय गरुड़जीकी यात्राके निमित्तसे सब पक्षी समुद्रके तीर पर गये। फिर कौएके साथ एक मुसाफिरसी चला। पीछे जाते हुए अहीरकी दहीकी हाँडीमेंसे बार बार कौआ दही खाने लगा। फिर जब इसने दहीकी हाँडीको धरती पर रख कर ऊपर देखा तब उसको कौआ और बटेर दीख पड़े। फिर उससे खदेड़ा हुआ कौआ उड़ गया। और स्वभावसे अपराधहीन हौले हौले जाने वाले मुसाफिरको उसने पकड़ लिया और मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ— "न बैठना चाहिये और न जाना चाहिये" इत्यादि। फिर मैंने कहा—'भाई तोते! क्यों ऐसे कहते हो? मुझे तो जैसे श्रीमहाराज हैं वैसेही तुम हो।' तोतेने कहा—'ऐसेही ठीक है।

किन्तु,—

दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥ २३॥

परन्तु—दुष्टोंसे कहे हुए वचन चाहे जैसे अच्छे और प्यारे हों, वे कुऋतुके (बिना मोसमके) पुष्पोंके समान भय उत्पन्न करतेही हैं॥ २३॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्।

और तेरा दुष्टपणा तो तेरी बातसेही जान लिया गया कि इन राजाओंके युद्धमें तेरा वचनही मूल कारण है।

पश्य,—

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्' ॥ २४ ॥

देखो—मूर्ख सामने किये हुए दोषको देख कर भी मीठे मीठे वचनोंसे प्रसन्न हो जाता है, जैसे एक बढ़ईने यारसमेत अपनी स्त्रीको सिर पर धर लिया' ॥२४॥

राज्ञोक्तम्—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

राजा बोला-'यह कथा कैसे है ?' तोता कहने लगा—

कथा ७

[एक बढई, उसकी व्यभिचारिणी स्त्री और यारकी कहानी ७]

'अस्ति यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति । जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति । ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः । कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः । अथ 'रथकारो ग्रामान्तरं गतः' इत्युपजातविश्वासः स जारः संध्याकाल एवागतः । पश्चात्तेन समं तस्मिन्पर्यङ्के क्रीडन्ती पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किंचिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनमिति विज्ञाय विषण्णाऽभवत् । ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे? विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम्' । तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि । मम प्राणेश्वरो येन ममाकौमारं सख्यं सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः । तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति । 'किं भावि, तत्र परस्थाने, किं खादितवान्, कथं वा प्रसुप्तः' इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते ।' जारो ब्रूते—'तव किमेवं स्नेहभूमी रथकारः?' बन्धक्यवदत्—'रे बर्बर ! किं वदसि ?

'यौवनश्रीनगरमें मंदमति नाम बढ़ई रहता था, और वह अपनी स्त्रीको व्यभिचारिणी समझता था । पर यारके संग अपनी आँखोंसे एक स्थानमें नहीं देखता था । बाद यह बढ़ई "मैं दूसरे गाँवको जाता हूँ" यह कह कर चला गया । थोडी दूर जा कर और फिर लौट आ कर पलंगके नीचे अपने घरमें छुप कर

कथा ६

[काक, मुसाफिर और एक ग्वालेकी कहानी ६]

एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसंगेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्तकश्चलितः। अथ गोपालस्य गच्छतो दधिभाण्डाद्वारंवारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते तावत्तेन काकवर्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन खेदितः काकः पलायितः। वर्तकः स्वभावनिरपराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"न स्थातव्यं न गन्तव्यम्" इत्यादि॥ ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्।

एक समय गरुड़जीकी यात्राके निमित्तसे सब पक्षी समुद्रके तीर पर गये। फिर कौएके साथ एक मुसाफिरभी चला। पीछे जाते हुए अहीरकी दहीकी हाँडीमेंसे बार बार कौआ दही खाने लगा। फिर जब इसने दहीकी हाँडीको धरती पर रख कर ऊपर देखा तब उसको कौआ और बटेर दीख पड़े। फिर उससे खदेड़ा हुआ कौआ उड़ गया। और स्वभावसे अपराधहीन हौले हौले जाने वाले मुसाफिरको उसने पकड़ लिया और मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ—"न बैठना चाहिये और न जाना चाहिये" इत्यादि। फिर मैंने कहा—'भाई तोते! क्यों ऐसे कहते हो? मुझे तो जैसे श्रीमहाराज हैं वैसेही तुम हो।' तोतेने कहा—'ऐसेही ठीक है।

किन्तु,—

> दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि।
> अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥ २३॥

परन्तु—दुष्टोंसे कहे हुए वचन चाहे जैसे अच्छे और प्यारे हों, वे कुऋतुके (बिना मोसमके) पुष्पोंके समान भय उत्पन्न करतेही हैं॥ २३॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्।

और तेरा दुष्टपणा तो तेरी बातसेही जान लिया गया कि इन राजाओंके युद्धमें तेरा वचनही मूल कारण है।

पश्य,—

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्' ॥ २४ ॥

देखो—मूर्ख सामने किये हुए दोषको देख कर भी मीठे मीठे वचनोंसे प्रसन्न हो जाता है, जैसे एक बढ़ईने यारसमेत अपनी स्त्रीको सिर पर धर लिया' ॥२४॥

राज्ञोक्तम्—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

राजा बोला–'यह कथा कैसे है ?' तोता कहने लगा—

कथा ७

[एक बढ़ई, उसकी व्यभिचारिणी स्त्री और यारकी कहानी ७]

'अस्ति यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति । जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति । ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः । कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः । अथ 'रथकारो ग्रामान्तरं गतः' इत्युपजातविश्वासः स जारः संध्याकाल एवागतः । पश्चात्तेन समं तस्मिन्पर्यङ्के क्रीडन्ती पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किंचिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनमिति विज्ञाय विषण्णाऽभवत् । ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ? विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम्' । तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि । मम प्राणेश्वरो येन ममाकौमारं सख्यं सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः । तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति । 'किं भावि, तत्र परस्थाने, किं खादितवान्, कथं वा प्रसुप्तः' इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते ।' जारो ब्रूते—'तव किमेवं स्नेहभूमी रथकारः ?' बन्धक्यवदत्—'रे बर्बर ! किं वदसि ?

'यौवनश्रीनगरमें मंदमति नाम बढ़ई रहता था, और वह अपनी स्त्रीको व्यभिचारिणी समझता था। पर यारके संग अपनी आँखोंसे एक स्थानमें नहीं देखता था। बाद यह बढ़ई "मैं दूसरे गाँवको जाता हूँ" यह कह कर चला गया। थोड़ी दूर जा कर और फिर लौट आ कर पलंगके नीचे अपने घरमें छुप कर

बैठ गया। फिर, 'बढ़ई दूसरे गाँवको गया' इस विश्वासके मारे वह यार दिन डूबतेही आ गया। पीछे उसके साथ उसी पलंग पर क्रीडा करती हुई पलंगके नीचे बैठे हुए स्वामीकी देहके (खल्पसा) छूजानेसे स्वामीको छलिया जान कर उदास हो गई। तब यारने कहा-'क्या बात है ? तू आज मेरे साथ जी खोल कर नहीं रमण करती है ? तू मुझे कुछ दुचित्ती-सी समझ पड़ती है।' उसने कहा-'तू नहीं जानता है। मेरा प्राणप्यारा कि जिसके साथ मेरी बाल्यावस्थासे प्रीति है सो आज दूसरे गाँवको गया है। उसके बिना सब जनोंसे भरा हुआभी यह गाँव मुझे अरण्य-सा जान पड़ता है। क्या होनहार है, वहाँ दूसरे स्थानमें क्या खाया होगा अथवा कैसे सोया होगा इस सोचसे मेरा हिरदा फटा जा रहा है।' यारने कहा—'क्या तेरा बढ़ई ऐसा स्नेह करने वाला है ?' व्यभिचारिणी स्त्री बोली—'अरे धूर्त ! क्या पूछता है ?

शृणु,—

परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभागिनी ॥ २५ ॥

सुन—पुरुष चाहे वैसे निष्ठुर वचन स्त्रीसे कहे और क्रोधकी आँखसे देखे परंतु पतिके सामने मुखको जो प्रसन्न रक्खे वह स्त्री ही धर्मकी अधिकारिणी है ॥ २५ ॥

अपरं च,—

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २६ ॥

और दूसरे-नगरमें रहे, अथवा वनमें रहे, पापी हो अथवा पुण्यात्मा हो जिन स्त्रियोंको पति प्यारा है उन्हींका संसारमें बड़ा भाग्योदय है ॥ २६ ॥

अन्यच्च,—

भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभना ॥ २७ ॥

और स्त्रियोंका भूषणोंके विनाही पति परम भूषण है, उससे रहित यह स्त्री रूपवतीभी कुरूपा है ॥ २७ ॥

त्वं जारः पापमतिः । मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्सेव्यसे कदाचिन्न सेव्यसे च । स च स्वामी मां विक्रेतुं देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽपि दातुमीश्वरः । किं बहुना, तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामीति प्रतिज्ञा वर्तते ।

तू तो पापबुद्धी है । चित्तकी चंचलतासे पुष्प-तांबूलके समान है, कभी सेवा किया जाता है और कभी नहीं किया जाता है । और वह स्वामी मुझे बेचनेके लिये और देवता और ब्राह्मणोंको देनेके लियेभी समर्थ है । अधिक क्या कहूँ ? उसके जीते मैं जीती हूँ, उसके मरने पर सती हो जाऊँगी यह मेरी प्रतिज्ञा है ।

यतः,—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥ २८ ॥

क्योंकि-जो स्त्री पतिकी आज्ञामें चलती है वह, मनुष्य (शरीर)के ऊपर जो तीन करोड़ पचास लाख लोम (रोंगटे) हैं उतने वर्ष तक स्वर्गमें वसती है ॥

अन्यच्च,—

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वद्भर्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते ॥ २९ ॥

और दूसरे-जैसे मदारी (मन्त्रके प्रभावसे) साँपको बिलसे बलसे खींचता है वैसेही स्त्री (पतिव्रतके प्रभावसे) पतिको स्वर्गलोकमें ले जा कर सुख भोगती है ॥

अपरं च,—

चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वापि पापं शतसंख्यमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्' ॥ ३० ॥

और-जो स्त्री चितामें अपने मरे हुए भर्ताको गोदमें ले कर अपने शरीरको छोड़ती (सती हो जाती) है वह सौ पाप करकेभी पतिको ले कर स्वर्गलोकको जाती है' ॥ ३० ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा स रथकारोऽवदत्—'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी स्वामिवत्सला भार्या' इति मनसि निधाय तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा सानन्दं ननर्त । अतोऽहं ब्रवीमि—"प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे" इत्यादि ॥ ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं संपूज्य प्रस्थापितः । शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते । एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्तव्यमनुसंधीयताम् ।' चक्रवाको विहस्याह—'देव ! बकेन तावद्देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम् । किंतु देव ! स्वभाव एष मूर्खाणाम् ।

यह सब सुन कर वह बढ़ई बोला–'मैं धन्य हूँ जिसकी ऐसी मिष्टभाषिणी स्वामीको प्यार करने वाली स्त्री है । यह मनमें ठान, उन स्त्रीपुरुषसहित खाटको सिर पर रख कर वह आनन्दसे नाचने लगा । इसलिये मैं कहता हूँ–"प्रत्यक्ष दोष किये जाने परभी" इत्यादि । फिर उस राजाने वहाँकी रीतिके अनुसार तिलक कर मुझे बिदा किया । तोताभी मेरे पीछे पीछे आ रहा है । यह सब बात जान कर जो करना है सो करिये । चकवेने हँस कर कहा–'महाराज ! बगुलेने प्रदेश जा कर भी शक्तिके अनुसारं राजकार्य किया, परन्तु महाराज ! मूर्खोंका यही स्वभाव है ।

यतः,—

शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम् ।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्' ॥ ३१ ॥

क्योंकि—अपना सैंकड़ोंका दान (हानि) करे परन्तु विवाद न करे यह बुद्धिमानोंका मत है, और विना कारणभी कलह कर बैठना यह मूर्खका लक्षण है' ॥ ३१ ॥

राजाह—'किमतीतोपालम्भनेन ? प्रस्तुतमनुसंधीयताम् ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! विजने ब्रवीमि ।

राजा बोला–'जो हो गया उसके उलहनेसे क्या (लाभ) है ? अब जो करना है उसे करो ।' चकवा बोला–'महाराज ! एकांतमें कहूँगा ।

यतः,—

वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः ।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्' ॥ ३२ ॥

क्योंकि—रंग, रूप, चेष्टा, स्वर, नेत्र और मुख इनके बदलनेसे चतुर मनुष्य मनकीभी बात जान लेते हैं इसलिये एकांतमें गुप्त वार्ता करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ। अन्येऽन्यत्र गताः। चक्रवाको ब्रूते—'देव! अहमेवं जानामि। कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्।

राजा और मंत्री वहाँ रहे। और सब दूसरे स्थानको चले गये। चकवा बोला-'हे महाराज! मैं ऐसा जानता हूं कि किसी हमारेही सेवकके सिखाये भलायेसे बगुलेने यह किया है।

यतः,—

वैद्यानामातुरः श्रेयान् व्यसनी यो नियोगिनाम्।
विदुषां जीवनं मूर्खः सद्वर्णो जीवनं सताम्' ॥ ३३ ॥

क्योंकि—वैद्योंको रोगी लाभदायक है, सेवकोंको द्यूतपानादि व्यसनसे युक्त राजा कल्याणकारी है, पंडितोंका मूर्ख जीवन है, अर्थात् आजीविका देने वाला है, और सत्पुरुषोंका जीवन उत्तम वर्ण है' ॥ ३३ ॥

राजाऽब्रवीत्—'भवतु। कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्। संप्रति यत्कर्तव्यं तन्निरूप्यताम्।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत्प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं बलाबलं च जानीमः।

राजा बोला-'जो कुछ हो, इसमें जो कारण है उसका पीछे निश्चय कर लिया जायगा, अब जो कुछ करना है उसका निर्णय करो।' चकवा बोला-'हे महाराज! पहले किसी भेदियेको भेजिये, फिर उसका काम और बलाबल जानें।

तथा हि,—

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने।
चारचक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ ३४ ॥

वैसा कहा है—राजाओंका अपने, तथा शत्रुके राज्योंके, अच्छे तथा बुरे कामोंके देखनेके लिये भेदियाही नेत्र (गूड मन्त्र जानने वाला) होता है और जिसके नहीं होता है वह सचमुच अंधाही है ॥ ३४ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य निगद्य प्रस्थापयति।

और वह दूसरे विश्वासी पुरुषको साथ ले जाय, जिससे वह आप वहाँ अपनेको ठहरा कर दूसरेको वहाँका मंत्रकार्य गुप्त लगा कर इसको समझा कर बिदा करदे।

तथा चोक्तम्,—

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत् ॥ ३५ ॥

जैसा कहा है—तीर्थ, आश्रम और देवताके स्थानमें शास्त्रके ज्ञानके छलसे तपस्वियोंके रूपको धारण किये हुए अपने भेदियोंके द्वारा राजाको शत्रुके राज्यका भेद जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

गूढचारश्च यो जले स्थले चरति। ततोऽसावेव बको नियुज्यताम्। एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु। तद्गृहलोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु, किंतु देव! एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्।

और गुप्त भेदिया वह है जो जलमें और थलमें जाता है; फिर इस बगुलेकोही नियुक्त कीजिये। ऐसाही कोई दूसरा बगुला जाय। और उसके घरके लोग राजद्वारमें रहें। परंतु हे महाराज! यह कार्यभी अत्यन्त गुप्त करना चाहिये।

यतः,—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३६ ॥

क्योंकि—छः कानमें गुप्त बात जानेसे तथा अन्यसे विदित हुई बात खुल जाती है, इसलिये राजाको केवल एकहीसे अर्थात् अकेले मंत्रीसेही (एकांतमें) विचार करना चाहिये ॥ ३६ ॥

पश्य,—

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३७ ॥

देखो,—हे राजन्! मन्त्रका भेद खुल जाने पर जो बुराइयाँ होती हैं वे सुधर नहीं सकती हैं यह नीति जानने वालोंका मत है' ॥ ३७ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः।' मन्त्री ब्रूते—'तदा संग्रामविजयोऽपि प्राप्तः।'

राजा विचार कर बोला–'मुझे भेदिया तो उत्तम मिल गया।' मंत्री बोला–'तो युद्धमें विजयभी मिला।'

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव! जम्बुद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति।' राजा चक्रवाकमालोकते। चक्रवाकेणोक्तम्—'तावद्गत्वावासे तिष्ठतु पश्चादानीय द्रष्टव्यः।' प्रतीहारस्तमावासस्थानं नीत्वा गतः। राजाह—'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः'। चक्रो ब्रूते—'देव! प्रागेव विग्रहो न विधिः।

इस बीचमें द्वारपालने प्रविष्ट हो कर प्रणाम कर कहा–'महाराज! जंबूद्वीपसे आया हुआ तोता द्वार पर बैठा है।' राजाने चकवेकी ओर देखा। चकवेने कहा—'पहले जा कर डेरेमें बैठे बाद मुझे ला कर दिखलाना।' द्वारपाल उसे ले कर डेरेको गया; राजा कहने लगा–'लड़ाई तो आ पहुँची।' चकवा बोला–'महाराज! पहलेसेही युद्ध योग्य नहीं है,

यतः,—

स किंभृत्यः स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम्।
युद्धोद्योगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्॥ ३८॥

क्योंकि—जो पहलेही राजाको विना विचारे युद्धके उद्योगका और अपनी भूमिके त्यागका उपदेश करता है वह निन्दित सेवक तथा निन्दित मंत्री है ३८

अपरं च,—

विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः॥ ३९॥

और दूसरे-दोनों युद्ध करने वालोंकी जीत निश्चय नहीं दीखती है इसलिये कभी भी (पहलेही) युद्ध करनेका यत्न न करना चाहिये॥ ३९॥

अन्यच्च,—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
साधितुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥ ४०॥

और प्रथमतः मीठे वचनसे, धन दे कर और तोड़ फोड़ करके इन तीनोंसे एक साथ ही अथवा अलग अलग शत्रुओंको वश करनेके लिये यत्न करना चाहिये पर युद्धसे कभी न करना चाहिये॥ ४०

अपरं च,—

सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ॥ ४१ ॥

और विग्रह(युद्ध)में गये विना सभी मनुष्य शूर हैं, क्योंकि शत्रुकी सामर्थ्यको नहीं जाननेवाला ऐसा कौन है जो घमंडी न होय ? ॥ ४१ ॥

किंच,—

न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४२ ॥

और पत्थरकी शिला जैसी कि काठके यंत्रसे उठाई जाती है ऐसी प्राणियोंसे नहीं उठाई जाती है, इसलिये छोटे उपायसे बड़ा लाभ होना यह बड़े मंत्रकाही फल है ॥ ४२ ॥

किंतु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम् ।

परंतु विग्रहको उपस्थित देख कर उपाय कीजिये;

यतः,—

यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति रक्षणात् ॥ ४३ ॥

क्योंकि—जैसे ठीक समय पर उद्योग करनेसे (अर्थात् हल इत्यादि चलाने तथा बीज बोनेसे) खेती फलती है वैसेही हे राजा ! यह नीतिभी बहुत काल तक रक्षा करनेसे फलती है ॥ ४३ ॥

अपरं च,—

महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः ।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ॥ ४४ ॥

और संसारमें बुद्धिमानोंको आपत्तिमें, दूरसे डर लगता है, पास आने पर अपनी शूरताका गुण दिखाते हैं, और महात्मा पुरुष विपत्तिमें धीरज धरते हैं ॥ ४४ ॥

अन्यच्च,—

प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ? ॥ ४५ ॥

और दूसरे-किसीके वचनको न सहना यह सब सिद्धियोंका सचमुच मुख्य विघ्न है, जैसे ठंडा जलभी क्या पहाड़को नहीं उखाड़ डालता है? अर्थात् पुरुषको ठंडे दिलसे दूसरेका वचन सुन लेना चाहिये, फिर योग्य हो सो करें, इस तरह वह जरूर सिद्धि पा सकता है ॥ ४५ ॥

विशेषतश्च महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा।

और विशेष करके वह चित्रवर्ण राजा बड़ा बलवान् है।

यतः,—

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ ४६ ॥

इसलिये-बलवान्के साथ लड़ना यह शूरताका चिह्न नहीं है, क्योंकि मनुष्योंको हाथीके साथ लड़ना मृत्युको पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

अन्यच्च,—

स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्यमो यथा ॥ ४७ ॥

और जो अवसरके विना पाये शत्रुसे भिड़ जाता है वह मूर्ख है, और बलवान् के साथ कलह करना चेंटीके पक्ष निकलनेके समान है ॥ ४७ ॥

किंच,—

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ४८ ॥

और नीति जानने वाला कछुएके मुख सिकोड़नेके समान प्रहारकोभी सहे और अवसर मिलने पर क्रूर सर्पके समान उठ बैठे ॥ ४८ ॥

महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ ४९ ॥

उपायका जानने वाला बड़े और छोटे शत्रुके नाश करनेमें समान समर्थ होता है, जैसे नदीका वेग तृण और वृक्षोंको जड़से उखाड़नेको समर्थ होता है ॥४९॥

अतस्तद्दूतोऽप्याश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गः सज्जीक्रियते।

इसलिये उसके दूतको विश्राम दिला कर तब तक ठहरा लीजिये कि जब तक गढ़ सज जाय;

यतः,—

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विशिष्यते ॥ ५० ॥

क्योंकि-किले पर बैठा हुआ एक धनुषधारी सैंकडों मनुष्योंसे युद्ध कर सकता है, और सैंकडों मनुष्य एक लाख मनुष्योंसे लडाईमें भिड सकते हैं, इसलिये गढ़ अधिक है अर्थात् युद्धमें वह एक बलवत्तर साधन माना गया है ॥ ५० ॥

किं च,—

अदुर्गो विषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत् ॥ ५१ ॥

और गढ़से रहित राजा किस शत्रुके पराजयका विषय नहीं होता है ? अर्थात् विना गढ़के एवं आश्रयशून्य राजा सहजहीमें जीता जा सकता है, इसलिये गढ़ विना आश्रयहीन राजा नावसे (जलमें) गिरे हुए निराधार पुरुषके समान है ॥

दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं सजलं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥ ५२ ॥

पहाड़, नदी, निर्जलदेश और गहरे वनके पास बड़ी गहरी खाई तथा ऊँचे परकोटेसे युक्त और तोप-गोले तथा बारूद और जल इनसे युक्त किला बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः' ॥ ५३ ॥

लंबा, चौडा, ऊँचा, नीचा, जल, अन्न और ईंधन इनका संग्रह, और जाने तथा आनेका मार्ग, ये गढ़की सात प्रधान सामग्रियाँ हैं' ॥ ५३ ॥

राजाह—'दुर्गानुसंधाने को नियुज्यताम् ?' ।

राजा बोला-'गढ़ बनानेमें किसे नियुक्त करना चाहिये ?'

चक्रो ब्रूते—

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ ५४ ॥

चकवा बोला—'जो जिस काममें चतुर हो उसको उस काममें नियत कर देना चाहिये, क्योंकि जिसको कामका अनुभव नहीं है ऐसा बुद्धिमान् होता हुआ भी (समयपर) गड़बड़ा जाता है ॥ ५४ ॥

तदाहूयतां सारसः ।' तथानुष्ठिते सत्यागत सारसमालोक्य राजोवाच—'भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसंधेहि ।' सारसः प्रणम्योवाच—'देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सरः । किंत्वत्र मध्यवर्तिद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम् ।

इसलिये सारसको बुलाओ ।' ऐसा करने पर सारसको आया देख राजा बोला–'सारस ! तू शीघ्र गढ़को बना ।' सारसने प्रणाम करके कहा—'महाराज ! गढ़ तो बहुत कालसे देखाभाला यही बड़ा सरोवर ठीक है । परन्तु इस बीचके द्वीपमें सामग्री इकट्ठी कर दी जावे;

यतः,—

धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात् ।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि—हे राजा ! सब तरहके संग्रहसे अन्नका संग्रह श्रेष्ठ है, क्योंकि मुखमें रक्खा हुआ रत्न अर्थात् धन प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सकता है ॥ ५५ ॥

किंच,—

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते' ॥ ५६ ॥

और–सब रसोंमें प्रसिद्ध नोन रस सचमुच उत्तम है कि जिसके बिना ग्रहण (भक्षण) भोजनका किया हुआ पदार्थ गोबर-सा (स्वादरहित) लगता है ॥ ५६ ॥

राजाह—'सत्वरं गत्वा सर्वमनुतिष्ठ ।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव ! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि तिष्ठति । देवपादं द्रष्टुमिच्छति ।' राजाह—'काकाः पुनः सर्वज्ञा बहुद्रष्टारश्च । तद्भवति संग्राह्य इत्यनुवर्तते ।' चक्रो ब्रूते—'देव ! अस्त्येवम् । किंतु काकः स्थलचरः । तेनास्मद्विपक्षे नियुक्तः कथं संग्राह्यः ?

राजा बोला–'शीघ्र जा कर सब तयारी कर ।' फिर द्वारपाल आ कर बोला–'महाराज ! सिंहलद्वीपसे आया हुआ मेघवर्ण नाम कौवा कुटुम्बसमेत द्वार पर बैठा है । महाराजका दर्शन करना चाहता है ।' राजा बोला–'क्या कहना है ! काक तो सब जानने वाले और ऊँच नीच विचार कर काम करने वाले होते हैं । इसलिये उनको (अपने पक्षमें) रखना ऐसा (ठीक) जान पड़ता है ।' चकवा

बोला-'महाराज ! यह ठीक है । परन्तु कौवा पृथ्वी पर घूमने वाला है । इसलिये हमारे शत्रुपक्षमें मिला हुआ है, और कैसे (अपने पक्षमें) रखने योग्य होगा ?

तथा चोक्तम्,—

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्णशृगालवत्' ॥ ५७ ॥

जैसा कहा है—जो अपने साथियोंको छोड़ कर शत्रुके पक्ष पर स्नेह करता है वह मूर्ख नीलवर्ण सियारके समान शत्रुओंसे मारा जाता है' ॥ ५७ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

राजा बोला-'यह कहानी कैसी है ?' मंत्री कहने लगा ।—

कथा ८

[नीलमें रंगे हुए एक गीदड़की मृत्युकी कहानी ८]

'अस्त्यरण्ये कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन्नीलीभाण्डे पतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः प्रातरात्मानं मृतवत्संदर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना मृत इति ज्ञात्वा तस्मात्समुत्थाप्य दूरे नीत्वापसारितस्तस्मात्पलायितः । ततोऽसौ वनं गत्वा स्वकीयमात्मानं नीलवर्णमवलोक्याचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः । तदाऽहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि ?' इत्यालोच्य शृगालानाहूय तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाभिषिक्तः । तदद्यारभ्यारण्येऽस्मदाज्ञया व्यवहारः कार्यः ।' शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाज्ञापयति देवः ।' इत्यनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव । ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाधिक्यं साधितम् । ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनावज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः । ततो विषण्णाञ्शृगालानवलोक्य केनचिद्वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातम्—'मा विषीदत । यदनेनानभिज्ञेन नीतिविदो मर्मज्ञा वयं स्वसमीपात्परिभूतास्तद्यथाऽयं नश्यति तथा विधेयम् । यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते ।

तद्यथायं परिच्चितो भवति तथा कुरुत । तत्र चैवमनुष्ठेयम्—यतः सर्वे संध्यासमये संनिधाने महारावमेकदैव करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः ।' ततस्तथानुष्ठिते सति तद्वृत्तम् ।

एक समय वनमें कोई गीदड़ अपनी इच्छासे नगरके पास घूमते घूमते नीलके हौदमें गिर गया । पीछे उसमेंसे निकल नहीं सका; प्रातःकाल अपनेको मरेके समान दिखला कर बैठ गया । फिर नीलके हौदके स्वामीने उसे मरा हुआ जान कर और उसमेंसे निकाल कर दूर ले जा कर फेंक दिया और वहाँसे वह भाग गया । तब उसने वनमें जा कर और अपनी देहको नीले रंगकी देख कर विचार किया—'मैं अब उत्तम वर्ण हो गया हूं, तो मैं अपनी प्रभुता क्यों न करूं ? यह सोच कर सियारोंको बुला कर, उसने कहा—'श्रीभगवती वनकी देवीजीने अपने हाथसे वनके राज्य पर सब ओषधियोंके रससे मेरा राजतिलक किया है, इसलिये आजसे ले कर मेरी आज्ञासे काम करना चाहिये।' अन्य सियार भी उसको अच्छा वर्ण देख कर साष्टांग दंडवत प्रणाम करके बोले—'जो महाराजकी आज्ञा।' इसी प्रकारसे क्रम क्रमसे सब वनवासियोंमें उसका राज्य फैल गया । फिर उसने अपनी जातसे चारों ओर बैठा कर अपना अधिकार फैलाया, पीछे उसने व्याघ्र सिंह आदि उत्तम मंत्रियोंको पा कर सभामें सियारोंको देख कर लाजके मारे अनादरसे सब अपने जातभाइयोंको दूर कर दिया । फिर सियारोंको विकल देख कर किसी बूढ़े सियारने यह प्रतिज्ञा की कि 'तुम खेद मत करो । जैसे इस मूर्खने नीति तथा भेदके जानने वाले हम सभीका अपने पाससे अनादर किया है वैसेही जिस प्रकार यह नष्ट हो सो करना चाहिये । क्योंकि ये बाघ आदि, केवल रंगसे धोखेमें आ गये हैं और सियार न जान कर इसको राजा मान रहे हैं । जिससे इसका भेद खुल जाय सो करो । और ऐसा करना चाहिये कि संध्याके समय उसके पास सभी एक साथ चिल्लाओ । फिर उस शब्दको सुन कर अपने जातिके स्वभावसे वहभी चिल्लाते उठेगा ।' फिर वैसा करने पर वही हुआ अर्थात् उसकी पोल खुल गई;

यतः,—

> यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।
> श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम् ? ॥ ५८ ॥

क्योंकि—जिसका जैसा स्वभाव है वह सर्वदा छूटना कठिन है, जैसे यदि कुत्तेको राजा कर दिया जाय तो क्या वह जूतेको नहीं चबावेगा? ॥ ५८ ॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हतः।

तब शब्दसे पहिचान कर उसे बाघने मार डाला;

तथा चोक्तम्,—

छिद्रं मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः॥ ५९॥

जैसा कहा है—जिस प्रकार भीतर घुसके अग्नि सूखे पेड़को भस्म कर देती है वैसेही अपना दुश्मन अर्थात् भेदी, छिद्र (कचावट), मर्म (भेद) और पराक्रम (बल) को जानता है और नाश कर देता है ॥ ५९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि-"आत्मपक्षं परित्यज्य" इत्यादि ॥' राजाह—'यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः। तत्संग्रहे विचारः कार्यः'। चक्रो ब्रूते—'देव! प्रणिधिः प्रहितो दुर्गश्च सज्जीकृतः। अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम्।

इसलिये मैं कहता हूँ—"अपने पक्षको त्याग कर" इत्यादि।' राजा बोला-'जो यह बातभी है तोभी इतने दूरसे आये हुएको देखना चाहिये, और उसके ठहरानेका विचार करना चाहिये।' चकवा बोला-'महाराज! भेदियोंकोभी बिदा कर दिया और गढ़भी सज गया इसलिये तोतेको भी ला कर बैठाना चाहिये;

यतः,—

नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः।
तद्दूरान्तरितं दूतं पश्येद्धीरसमन्वितः' ॥ ६० ॥

क्योंकि—बड़े भीतरे, दूतके उपायसे चाणक्यने नन्द राजाको मारा इसलिये राजाको बुद्धिमान् मंत्रियोंसहित दूतको दूरहीसे देखना चाहिये' ॥ ६० ॥

ततः सभां कृत्वाहूतः शुकः काकश्च। शुकः किंचिदुन्नतशिरा दत्तासन उपविश्य ब्रूते—'भो हिरण्यगर्भ! महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्णस्त्वां समाज्ञापयति—'यदि जीवितेन श्रिया वा प्रयोजनमस्ति तदा सत्वरमागत्यास्मच्चरणौ प्रणम। न चेदवस्थातुं स्थानान्तरं चिन्तय।' राजा सकोपमाह—'आः! कोऽप्यस्माकं पुरतो नास्ति य एनं गलहस्तयति?'। उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—

'देव! आज्ञापय। हन्मि दुष्टं शुकम्।' सर्वज्ञो राजानं काकं च सान्त्वयन्ब्रूते—'शृणु तावत्।

तब सभा करके तोते और कागको बुलाया। तोता कुछ ऊँचा शिर करके दिये हुए आसन पर बैठ कर बोला-'हे हिरण्यगर्भ! महाराजाधिराज श्रीमान् चित्रवर्णने आपको अच्छी भाँति आज्ञा दी है-'जो तुम्हें अपने प्राणोंसे या लक्ष्मीसे प्रयोजन है, तो शीघ्र आ कर हमारे चरणोंको प्रणाम करो। नहीं तो दूसरे स्थानमें रहनेके लिये विचार करो।' राजाने झुँझला कर कहा-'अरे! कोई हमारे सामने नहीं है जो इसको गला पकड़ कर निकाले?' मेघवर्ण (कौवा) उठ कर बोला-'महाराज! आज्ञा कीजिये-दुष्ट तोतेको मार डालूँ। सर्वज्ञ (चकवा) राजा और कौएको शांत करता हुआ बोला-'पहले सुन लीजिये—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति॥ ६१॥

जिसमें वृद्ध पुरुष नहीं हैं वह सभा नहीं कहलाती है, जो धर्मको न कहे वे वृद्ध नहीं हैं, जिसमें सत्य नहीं है वह धर्म नहीं है, और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त है॥ ६१॥

यतो धर्मश्चैषः,—

क्योंकि (सच्चा) धर्म यह है—

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा॥ ६२॥

दूत हीनजातिका भी हो पर मारनेके योग्य नहीं होता है, क्योंकि राजाका दूतही मुख है कि जो शस्त्रोंके उठाने परभी विपरीत नहीं कहता है॥ ६२॥

किं च,—

स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः?।
सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति'॥ ६३॥

और दूतकी बातोंसे अपनी लघुता और शत्रुकी अधिकता कौन मानता है? दूत तो सदा 'मैं नहीं मारा जाऊंगा' इस भावनासे सभी कुछ कहता है॥६३॥

ततो राजा काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय प्रबोध्य कनकालंकारादिकं दत्त्वा संप्रेषितो ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलराजानं प्रणतवान् । राजोवाच—'शुक ! का वार्ता ? कीदृशोऽसौ देशः ?'। शुको ब्रूते—'देव ! संक्षेपादियं वार्ता । संप्रति युद्धोद्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ?'। ततः सर्वाञ्शिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च—'संप्रति कर्तव्यविग्रहे यथा कर्तव्यमुपदेशं ब्रूत । विग्रहः पुनरवश्यं कर्तव्यः ।

फिर राजा और काग अपने आपेमें आये । तोताभी उठ कर चला । तो चकवेने बुला कर और समझा कर और सुवर्णके आभूषण आदि दे कर बिदा किया और वह गया । फिर तोतेने विंध्याचलके राजाको दंडवत किया । राजा बोला–'हे तोते ! क्या समाचार है ? वह कैसा देश है ?' तोतेने कहा–'महाराज ! संक्षेपसे यह बात है, अब लड़ाईका ठाठ करिये । यह कर्पूरद्वीप देश एक स्वर्गका टुकड़ा है और राजा दूसरा इन्द्र है । कैसे वर्णन किया जा सकता है ?' फिर सब शिष्टोंको बुला कर एकान्तमें विचारकरनेके लिये बैठ गया और बोला–'अब जो लड़ाई करनी है उसमें जो कुछ करना है सो कहो । फिर लड़ाई तो अवश्य करनीही है ।

तथा चोक्तम्,—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः ।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलस्त्रियः' ॥ ६४ ॥

जैसा कहा है—असंतोषी ब्राह्मण, संतोषी राजा, लज्जावती वेश्या और निर्लज्जा कुलकी स्त्री ये चारों नष्ट होते हैं, अत एव निन्दा करनेके योग्य हैं' ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो ब्रूते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः ।

दूरदर्शी नाम गिद्ध बोला–'महाराज ! बिना अवसरके संग्राम करनेकी रीति नहीं है ।

यतः,—

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६५ ॥

क्योंकि— मित्र, मंत्री और आपसके लोग जब दृढ़ शुभचिन्तक हों और शत्रुओंके विपरीत हों तब लड़ाई करनी चाहिये ॥ ६५ ॥

अन्यच्च,—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम्।
यदैतन्निश्चितं भावि कर्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६६ ॥

और दूसरे-राज्य, मित्र, और सुवर्ण यह तीन लड़ाईके बीज हैं, जब यह तीनों निश्चय हो जाय तब लड़ाई करनी चाहिये' ॥ ६६ ॥

राजाह—'मद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री। तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्तिकः। निर्णीय च शुभलग्नं ददातु।' मन्त्री ब्रूते—'तथा हि सहसा यात्राकरणमनुचितम्।

राजा बोला-'मंत्री, पहिले मेरी सेनाको देखें। फिर इनकी कार्यमें योग्यता जानें। और एक ज्योतिषीजीकोभी बुलावा भेजो। अच्छा लग्न निश्चय कर दें। मंत्री बोला-'तोभी अचानक (विना सोचे) यात्रा करना उचित नहीं है।

यतः,—

विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम्।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६७ ॥

क्योंकि— जो मूर्ख एकाएकी शत्रुके बलको विना विचारे लड़ाई ठान लेते हैं वे अवश्य ही खड्गकी धारसे घावको पाते हैं, अर्थात् मरते हैं' ॥ ६७ ॥

राजाह—'मन्त्रिन्! ममोत्साहभङ्गः सर्वथा मा कृथाः। विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय।' गृध्रो ब्रूते—'तत्कथयामि। किंतु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्।

राजा बोला-'हे मंत्री! तुम मेरे उत्साहका भंग सब प्रकारसे मत करो। जिस प्रकार जयकी चाहने वाला शत्रुके राज्यका चढ़ कर घेर लेता है सो कहो।' गिद्ध बोला-'यह कहता हूँ। परन्तु उस प्रकारसे करनाही लाभदायक है,

तथा चोक्तम्,—

किं मन्त्रेणाननुष्ठानाच्छास्त्रवित्पृथिवीपतेः ।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ॥ ६८ ॥

जैसा कहा है—विना किये, शास्त्रके जानने वाला राजाके परामर्शसे क्या फल होता है ? जैसे औषधमात्रके जान लेनेसे कभी रोगकी शांति नहीं होती है ॥ ६८ ॥

राजादेशश्चानतिक्रमणीयः । यथाश्रुतं तन्निवेदयामि ।

और राजाकी आज्ञा भंग नहीं करनी चाहिये । जैसा सुना है सो निवेदन करता हूँ ।

शृणु,—

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ६९ ॥

सुनिये—हे राजा ! नदी, पहाड़, वन तथा कठिन स्थानोंमें जहाँ जहाँ भय होय वहाँ वहाँ सेनापति व्यूह बाँध कर (परेड बना कर) सेनाके साथ जाय ॥ ६९ ॥

बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्बलम् ॥ ७० ॥

सेनापति बड़े बड़े योद्धाओंके साथ अगाड़ी चले, और बीचमें स्त्रियाँ, स्वामी, कोश (खजाना) और निर्बल सेना जाय ॥ ७० ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ ७१ ॥

दोनों ओर आसपास घोड़े, घोड़ोंके पार्श्वमें रथ, रथोंके आसपास हाथी और हाथियोंके आसपास पैदल ॥ ७१ ॥

पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७२ ॥

सेनापति पीछे वाले साहसहीन पुरुषोंको धीरे धीरे हिम्मत बँधाता हुआ जाय और राजा मंत्रियोंके तथा बड़े शूरवीरोंके साथ सेना ले कर जाय ॥ ७२ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७३ ॥

ऊँची नीची भूमिमें, कीचड़ खाँदेमें, तथा पर्वत पर हाथियों पर जाय, और एक-सी भूमिमें घोड़ों पर, और पानीमें नावोंके द्वारा, और सब देशोंमें पैदल सेनाको साथ ले कर जाना चाहिये ॥ ७३ ॥

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।
तदन्यत्र तुरंगाणां पत्तीनां सर्वदैव हि ॥ ७४ ॥

और बरसातमें हाथियोंका जाना, और ऋतुमें अर्थात् गरमी और जाड़ेमें घोड़ोंको और पैदलोंका जाना हमेशा श्रेष्ठ कहा है ॥ ७४ ॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृप ! रक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगनिद्रया ॥ ७५ ॥

हे राजा ! पर्वतोंमें तथा कठिन कठिन मार्गोंमें अपनी रक्षा अर्थात् सावधानता रखनी चाहिये, और अपने योद्धाओंसे रक्षा किये हुए भी राजाको कपटकी नींदसे सोना चाहिये, अर्थात् क्षणक्षणमें अपनी रक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्गकण्टकमर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७६ ॥

गढ़को ढाल कर, डेरेको तोड़ कर शत्रुका नाश करे अथवा पकड़ बाँधे और शत्रुके देशमें प्रवेश करनेसे पहले बनके रहने वाले भीलोंको मार्ग शोधन करनेके लिये आगे भेजना चाहिये ॥ ७६ ॥

यत्र राजा तत्र कोशो विना कोशान्न राजता ।
स्वभृत्येभ्यस्ततो दद्यात् को हि दातुर्न युध्यते ? ॥ ७७ ॥

जहाँ राजा हो वहाँ धनका कोश रहना चाहिये, क्योंकि विना कोशके राजत्व नहीं है और अपने शूरवीर योद्धाओंको धन देना चाहिये, फिर देने वालेके लिये कौन नहीं लड़ता है ? ॥ ७७ ॥

यतः,—

न नरस्य नरो दासो दासस्त्वर्थस्य भूपते ! ।
गौरवं लाघवं चाऽपि धनाधननिबन्धनम् ॥ ७८ ॥

क्योंकि–हे राजा ! मनुष्य मनुष्यका दास नहीं है किन्तु धनका दास है, और बड़ाई तथा छोटाई भी धन और निर्धनताके संबंधसे होती है ॥ ७८ ॥

अभेदेन च युध्येत रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किंचिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत् ॥ ७९ ॥

आपसमें मिल कर लड़ना चाहिये और एकको दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये और जो कुछ बलहीन सेना है उसे सेना(व्यूह)के बीचमें कर देनी चाहिये॥

पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत्।
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्॥ ८०॥

राजा, सेनाके आगे पैदल सेनाको रक्खे, जिससे वह वैरीको घेरे रहे और उसके राज्यमें लूट मार करे॥ ८०॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥ ८१॥

एक-सी भूमिमें रथ और घोड़ोंसे, जलयुक्त स्थानमें नाव और हाथियोंसे, वृक्ष अथवा झाड़ियोंसे ढँके हुए स्थानमें धनुष-बाणोंसे, और पटपड़में खड्ग आदि आयुधोंसे लड़ना चाहिये॥ ८१॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान्परिखांस्तथा॥ ८२॥

शत्रुके घास, अन्न, जल, तथा इन्धनका नाश कर दे और सरोवर, परकोटे तथा खाईको तोड़ देना चाहिये॥ ८२॥

बलेषु प्रमुखो हस्ती न तथाऽन्यो महीपतेः।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः॥ ८३॥

राजाकी सेनामें जैसा हाथी सबसे श्रेष्ठ है वैसे घोड़े आदि नहीं हैं, क्योंकि हाथी अपने (चार पैर, दो दाँत, एक सूंड और एक पूँछ, इन आठ) अंगोंसे 'अष्टायुध' कहाता है; अर्थात् उन आठही अवयवोंसे काम देनेसे हाथी सबसे श्रेष्ठ माना जाता है॥ ८३॥

बलमश्वस्य सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे॥ ८४॥

और सेनाओंके बीचमें घोड़ेकी सेना चलने वाला परकोटा है इसलिये जिस राजाके पास बहुत घोड़े हैं वह स्थलयुद्ध (पटपड़ भूमिके युद्ध)में जीतने वाला होता है॥ ८४॥

तथा चोक्तम्,—

युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्तिनः॥ ८५॥

वैसा ही कहा है–घोड़ों पर चढ़कर लड़ने वाले देवताओंसे भी नहीं जीते जा सकते हैं, क्योंकि उनको दूरके वैरी भी अपने हाथके पास दीखते हैं ॥८५॥

प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

हस्ती आदि सब चतुरंग सेनाकी रक्षा करना, युद्धकी पहली चतुरता है और दिशाओंके आने जानेके मार्गोंको काट कर युद्ध कर देना यह पैदल सेनाका काम कहते हैं ॥ ८६ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ८७ ॥

स्वभावहीसे शूर वीर, अस्त्रके चलानेमें चतुर, लड़ाईमें पीठ नही देने वाले, परिश्रमको सहने वाले और वीरतामें प्रसिद्ध क्षत्रियोंके समान, ऐसी सेनाको पण्डित लोग सबसे उत्तम कहते हैं ॥ ८७ ॥

यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ! ॥ ८८ ॥

हे राजा ! पृथ्वी पर स्वामीके सन्मान करनेसे जैसे मनुष्य लड़ते हैं वैसे बहुत दिये हुए धनसेभी नहीं लड़ते हैं ॥ ८८ ॥

वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ८९ ॥

बलवान् थोड़ी-सी सेना अच्छी होती है किंतु बहुत-सी मुंडोंकी मंडली अर्थात् बलहीन सेना इकट्ठी न करनी चाहिये, क्योंकि दुर्बलोंका पीठ दे कर संग्रामसे भागना साक्षात् बलवान् सेनाका भी उत्साहभंग कर देता है; याने कायर सेना भाग जाने पर वीरभी उन्हें देख कर कभी कभी भाग उठते हैं ॥ ८९ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९० ॥

अप्रसन्न होना, अधिकारी न करना, लूटे हुए धनको आपही ले लेना, वेतन आदि देनेमें आज-कल कह कर समय बिताना, और सेनाके विरोध आदिमें उपाय न करना ये वैराग्यके अर्थात् स्नेह छुटनेके कारण हैं ॥ ९० ॥

आपीडयन्बलं शत्रोर्जिगीषुरतिशोषयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ९१ ॥

शत्रुसे जा भिड़े, क्योंकि लंबे मार्ग चलनेसे थकी थकाई शत्रुओंकी सेना सहजमें जीती जा सकती है ॥ ९१ ॥

दायाददादपरो मन्त्रो नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः ॥ ९२ ॥

वैरियोंके भाईबेटोंको छोड़ कर फूट कराने वाला दूसरा मंत्र (उपाय) नहीं है, इसलिये उस शत्रुके नाते-गोतेके पुरुषको प्रयत्नसे उकसावे अर्थात् तोड़ फोड़ कर अपनी ओर मिलावे ॥ ९२ ॥

संधाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ९३ ॥

युवराजके साथ अथवा मुख्य मंत्रीके साथ संधि (मेल) करके निश्चिंताईसे बैठे-ठाले शत्रुके घरमें फूट करा देनी चाहिये ॥ ९३ ॥

क्रूरं मित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत् ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तल्लक्ष्याश्रितबन्धनात् ॥ ९४ ॥

युद्धमें हरा कर भी क्रूर मित्र (राजा) को मार डाले अथवा जैसे गौको खींच कर बाँधते हैं वैसे ही उसके मुख्य सहायक राजाओंको बंधनमें डाल कर उसे मार देना चाहिये ॥ ९४ ॥

स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशावगाहनात् ।
अथवा दानमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्' ॥ ९५ ॥

और राजा शत्रुके राज्यसे मनुष्योंको पकड़ ला कर अपने राज्यमें बसावे, अथवा धन और आदरसे बसाया हुआ वह राज्य ही धन देने वाला होता है' ॥ ९५ ॥

राजाह—'आः ! किं बहुनोदितेन ?

राजा बोला—'अजी ! बहुत बातोंसे क्या है ?

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतीयते' ॥ ९६ ॥

अपना लाभ और शत्रुकी हानि नीति तो यही है । बुद्धिमान् लोग इसीको स्वीकार करके अपनी चतुरता प्रकट करते हैं' ॥ ९६ ॥

मन्त्रिणा विहस्योच्यते—'सर्वमेतद्विशेषतश्चोच्यते ।

मंत्रीने हँस कर कहा-'यह तो सबसे बढ़ कर बात आप कहते हैं,

किंतु,—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ?' ॥ ९७ ॥

परन्तु, एक मनुष्य तो निरंकुश याने स्वतंत्र, और दूसरा नियन्त्रित याने नीति पर चलने वाला इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है, जैसे निश्चय करके चाँदनी और अँधेरेका एक जगह पर होना कहाँ संभव है ? अर्थात् नहीं हो सकता है, इसलिये नीतिविरुद्ध नहीं चलना चाहिये ॥ ९७ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः ।

तब राजा उठ कर ज्योतिषीके बतलाये लग्नमें लड़ाईके लिये बिदा हुआ ।

अथ प्रहितप्रणिधिर्हिरण्यगर्भमागत्योवाच–'देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । संप्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटकोऽनुवर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसंधातव्यम्, यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किंच केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैव तदिङ्गितमवगतं मया यदनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रो ब्रूते—'देव ! काक एवासौ संभवति ।' राजाह—'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः ? अपरं च । शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स चिरादत्रास्ते ।' मन्त्री ब्रूते—'तथाप्यागन्तुः शङ्कनीयः ।' राजाह—'आगन्तुका हि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते ।

फिर भेजे हुए दूतने हिरण्यगर्भसे आ कर कहा—'महाराज ! राजा चित्रवर्ण आ पहुँचा है । अब मलय पर्वतकी ऊँची भूमि पर डेरा डाल कर अपनी सेनाको बसा कर ठहरा हुआ है । गढ़की देखभाल क्षणक्षणमें करनी चाहिये, क्योंकि वह गिद्ध महामंत्री है । और किसीके साथ उसकी विश्वासकी बातचीतसेही उसकी चेष्टा मैंने जान ली कि हमारे गढ़में इसने किसी न किसीको पहलेसेही लगा रक्खा होगा ।' चकवा बोला–'महाराज ! वह कौवाही होना संभव दीख पड़ता है ।' राजा बोला–'यह बात कभी शक्य नहीं है । जो ऐसा होता तो कैसे उसने तोतेके अनादर करनेका उद्योग किया है । और दूसरे तोतेके आनेसे उसको लड़ाईका उत्साह हुआ है । वह यहाँ बहुत दिनोंसे रहता है ।' मंत्री

[illegible] लोगों आने आदि पर सन्देह करना ही चाहिये । राजा बोला—आने वाले सचमुच कभी कभी उपकारी दीख पड़ते हैं ।

शृणु,—

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥ ९८ ॥

सुन,—हित करने वाला शत्रु भी बन्धु है और अहितकारी बन्धु भी शत्रु होता है; जैसे देहसे उत्पन्न हुआ रोग अहितकारी होता है और वनमें उत्पन्न हुई औषध हितकारी होती है ॥ ९८ ॥

अपरं च,—

आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।
सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः' ॥ ९९ ॥

और दूसरे-शूद्रक नाम राजाका एक वीरवर नाम सेवक था; उसने थोड़े कालमें अपने पुत्रको दे दिया' ॥ ९९ ॥

चक्रः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । राजा कथयति—

चकवा पूछने लगा–'यह कथा कैसे है ?' राजा कहने लगा ।—

कथा ९

[राजकुमार और उसके पुत्रको बलिदानकी कहानी ९]

'अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम् । तत्र वीरवरो नाम महाराजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य राजद्वारमुपगम्य प्रतीहारमुवाच—'अहं तावद्वेतनार्थी राजपुत्रः । राजदर्शनं कारय ।' ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव ! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम् ।' शूद्रक उवाच—किं ते वर्तनम् ?' । वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि ।' राजाह—'का ते सामग्री ?' । वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू तृतीयश्च खड्गः ।' राजाह—'नैतच्छक्यम् ।' तच्छ्रुत्वा वीरवरश्चलितः । अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं किमुपयुक्तोऽयमेतावद्वर्तनं गृह्णात्यनुपयुक्तो वेति' । ततो

मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि। तद्विनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्यार्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यव्ययविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

'पहले मैं शूद्रक नाम राजाके क्रीड़ा-सरोवरमें कर्पूरकेलि नामक राजहंसकी पुत्री कर्पूरमंजरीके साथ अनुरक्त (प्रेमवश) हो गया था। वहाँ वीरवर नाम महाराजकुमार किसी देशसे आया और राजाकी ड्योढ़ी पर आ कर द्वारपालसे बोला-'मैं राजपुत्र हूं, नोकरी चाहता हूँ। राजाका दर्शन कराओ।' फिर इसने उसे राजाका दर्शन कराया और वह बोला-'महाराज! जो मुझ सेवकका प्रयोजन हो तो मुझे नोकर रखिये.।' शूद्रक बोला-"तुम कितनी तनख्वाह चाहते हो?" वीरवर बोला-'नित्य पाँच सौ मोहरें दीजिये।' राजा बोला-'तेरे पास क्या क्या सामग्री है?' वीरवर बोला-'दो बाँहें और तीसरा खड्ग।' राजा बोला-'यह बात नहीं हो सकती है। यह सुन कर वीरवर चल दिया। फिर मंत्रियोंने कहा-'हे महाराज! चार दिनका वेतन दे कर इसका स्वरूप जान लीजिये कि यह क्या उपकारी है, जो इतना धन लेता है या उपयोगी नहीं है।' फिर मंत्रीके वचनसे बुलवाया और वीरवरको बीड़ा दे कर पाँच सौ मोहरें दे दीं। और उसका काम भी राजाने छुप कर देखा। वीरवरने उस धनका आधा देवताओंको और ब्राह्मणोंको अर्पण कर दिया। बचे हुएका आधा दुखियोंको; उससे बचा हुआ भोजनके तथा विलासादिमें खर्च किया। यह सब नित्य काम करके वह राजाके द्वार पर रातदिन हाथमें खड्ग ले कर सेवा करता था और जब राजा आप आज्ञा देता तब अपने घर जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ राजा सकरुणं क्रन्दनध्वनिं शुश्राव। शूद्रक उवाच—'कः कोऽत्र द्वारि?'। तेनोक्तम्—'देव! अहं वीरवरः।' राजोवाच—'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्।' वीरवरो 'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः। राज्ञा च चिन्तितम्—'नैतदुचितम्। अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचिभेद्ये तमसि प्रेरितः। तदनु गत्वा किमेतदिति निरूपयामि।'

ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा च वीरवरेण सा रुदती रूपयौवनसंपन्ना सर्वालंकारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा। पृष्टा च—'का त्वम्? किमर्थं रोदिषि?' स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः। चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता। इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्रापायः संभवति तत्रोपायोऽप्यस्ति। तत्कथं स्यात्पुनरिहावलम्बनं भवत्याः?'। लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि' इत्युक्त्वाऽदृश्याऽभवत्।

फिर एक समय कृष्णपक्षकी चौदसके दिन, रातको राजाने करुणासहित रोनेका शब्द सुना। शूद्रक बोला–'यहाँ द्वार पर कौन कौन है?' उसने कहा—'महाराज! मैं वीरवर हूँ।' राजाने कहा–'रोनेकी तो टोह लगाओ।' 'जो महाराजकी आज्ञा' यह कह कर वीरवर चल दिया। और राजाने सोचा–'यह बात उचित नहीं है कि इस राजकुमारको मैंने घने अँधेरेमें जाने की आज्ञा दी। इसलिये मैं उसके पीछे जा कर यह क्या है इसका निश्चय करूँ।' फिर राजा भी खड्ग ले कर उसके पीछे नगरसे बाहर गया। और वीरवरने जा कर उस रोती हुई, रूप तथा यौवनसे सुन्दर और सब आभूषण पहिने हुए किसी स्त्रीको देखा और पूछा–'तू कौन है? किसलिये रोती है?' स्त्रीने कहा—'मैं इस शूद्रककी राजलक्ष्मी हूँ। बहुत कालसे इसकी भुजाओंकी छायामें बड़े सुखसे विश्राम करती थी। अब दूसरे स्थानमें जाऊँगी।' वीरवर बोला–'जिसमें अपाय(नाश)का संभव है उसमें उपाय भी है। इसलिये कैसे फिर यहाँ आपका रहना होगा?' लक्ष्मी बोली–'जो तू बत्तीस लक्षणोंसे संपन्न अपने पुत्र शक्तिधरको सर्वमंगला देवीकी भेट करे तो मैं फिर यहाँ बहुत काल तक रहूँ।' यह कह कर वह अंतर्धान हो गई।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्यो-

ऽहमेवंभूतः स्वामिराज्यरक्षार्थं यन्ममोपयोगः श्लाघ्यः। तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः? एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः।

फिर वीरवरने अपने घर जा कर सोती हुई अपनी स्त्रीको और बेटेको जगाया। वे दोनों नींदको छोड़, उठ कर खड़े हो गये। वीरवरने वह सब लक्ष्मीका वचन उनको सुनाया। उसे सुन कर शक्तिधर आनन्दसे बोला-'मैं धन्य हूँ जो ऐसे, स्वामीके राज्यकी रक्षाके लिये मेरा उपयोग प्रशंसनीय है। इसलिये अब विलम्बका क्या कारण है? ऐसे काममें देहका त्याग प्रशंसनीय है।

यतः,—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति' ॥ १०० ॥

क्योंकि—पण्डितको परोपकारके लिये धन और प्राण छोड़ देने चाहिये, विनाश तो निश्चय होगाही, इसलिये अच्छे कार्यके लिए प्राणोंका त्याग श्रेष्ठ है' ॥ १०० ॥

शक्तिधरमातोवाच—'यद्येतन्न कर्तव्यं तत्केनान्येन कर्मणा मुख्यस्य महावर्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति?' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां संपूज्य वीरवरो ब्रूते—'देवि! प्रसीद। विजयतां विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यतामुपहारः।' इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास—'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य जीवनेनालम्।' इत्यालोच्यात्मनः शिरच्छेदः कृतः। ततः स्त्रियापि स्वामिपुत्रशोकार्तया तदनुष्ठितम्।

शक्तिधरकी माता बोली-'जो यह नहीं करोगे तो और किस कामसे इस बड़े वेतनके ऋणसे उनंतर होगे?।' यह विचार कर सब सर्वमंगला देवीके स्थान पर गये। वहाँ सर्वमंगला देवीको पूज कर वीरवरने कहा-'हे देवी! प्रसन्न हो; शूद्रक महाराजकी जय हो जय हो! यह भेंट लो।' यह कह कर पुत्रका शिर काट डाला। फिर वीरवर सोचने लगा कि-'लिये हुए राजाके ऋणको तो चुका दिया। अब विना पुत्रके जीवित किस कामका?।' यह विचार कर उसने अपना शिर

[illegible] भी अपना शिर काट डाला।

तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—

'जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति ॥ १०१ ॥

यह सब देख कर राजा आश्चर्यसे सोचने लगा,—मेरे समान नीच प्राणी संसारमें जीते हैं और मरतेभी हैं, परन्तु संसारमें इसके समान न हुआ और न होगा ॥ १०१ ॥

तदेतेन परित्यक्तेन मम राज्येनाप्यप्रयोजनम्। ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः। अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया राजा हस्ते धृत उक्तश्च—'पुत्र! प्रसन्नास्मि ते एतावता साहसेनालम्। जीवनान्तेऽपि तव राज्यभङ्गो नास्ति।' राजा च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देवि! किं मे राज्येन, जीवितेन वा किं प्रयोजनम्? यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुःशेषेणायं सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाऽहं यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि।' भगवत्युवाच—'पुत्र! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण भृत्यवात्सल्येन च तव तुष्टास्मि। गच्छ। विजयी भव। अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु।' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारो गृहं गतः। राजापि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

इसलिये ऐसे महापुरुषसे शून्य इस राज्यसे मुझे भी क्या प्रयोजन है? पीछे शूद्रकने भी अपना शिर काटनेको खड्ग उठाया। तब सर्वमंगला देवीने राजाका हाथ रोका और कहा—'हे पुत्र! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, इतना साहस मत करो। मरनेके बाद भी तेरा राज्य भंग नहीं होगा।' तब राजा साष्टांग दंडवत और प्रणाम करके बोला—'हे देवी! मुझे राज्यसे क्या है अथवा जीनेसे भी क्या प्रयोजन है? और जो मैं कृपाके योग्य हूँ तो मेरी शेष आयुसे स्त्रीपुत्रसहित वीरवर जी उठे। नहीं तो मैं अपना शिर काट डालूंगा।' देवी बोली—'हे पुत्र! तेरे इस अधिक उत्साहसे और सेवकतासे स्नेहसे मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। जाओ, तुम्हारी जय हो। यह राजपुत्र भी परिवारसमेत जी उठे।' यह कह कर देवी

अंतर्धान हो गई। पीछे वीरवर अपने स्त्रीपुत्रसमेत घरको गया। राजा भी उनसे छुप कर शीघ्र रनवासमें चला गया।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह—'देव! सा रुदती मामवलोक्यादृश्याभवत्। न काप्यन्या वार्ता विद्यते।' तद्वचनमाकर्ण्य राजाऽचिन्तयत्—'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः?

इसके अनन्तर प्रातःकाल राजाने ड्योढ़ी पर बैठे हुए वीरवरसे फिर पूछा और वह बोला–'हे महाराज! वह रोती हुई स्त्री मुझे देख कर अन्तर्धान हो गई, और कुछ दूसरी बात नहीं थी।' उसका वचन सुन कर राजा सोचने लगा—'इस महात्माकी किस प्रकार बडाई करूँ?

यतः,—

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥ १०२॥

क्योंकि—उदार पुरुषको मीठा बोलना चाहिये, शूरको अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, दाताको कुपात्रमें दान न करना चाहिये, और उचित कहने वालेको दयारहित नहीं होना चाहिये॥ १०२॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य प्रसादात्तस्मै कर्णाटकराज्यं ददौ। तत्किमागन्तुको जातिमात्राद्दुष्टः? तत्राप्युत्तमाधममध्यमाः सन्ति।'

यह महापुरुषका लक्षण इसमें सब है। पीछे उस राजाने प्रातःकाल शिष्ट लोगोंकी सभा करके और सब वृत्तान्तकी प्रशंसा करके प्रसन्नतासे उसे कर्णाटकका राज्य दे दिया। इसलिये (मैं जानना चाहता हूं) क्या विदेशी केवल जाति मात्रसेही दुष्ट होता है? उनमें भी उत्तम, निकृष्ट और मध्यम होते हैं।

चक्रवाको ब्रूते—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया।
वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः॥ १०३॥

चकवा बोला—'जो राजाकी इच्छा(के अनुरोध)से, अयोग्य कार्यको योग्य कार्यके समान उपदेश करता है वह नीच मंत्री है। क्योंकि स्वामीके मनको

दुःख होना अच्छा है परन्तु उस अनुचित काम करनेसे उसका नाश होना अच्छा नहीं है ॥ १०३ ॥

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा ।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ १०४ ॥

जिस राजाके पास वैद्य, गुरु और मंत्री सदा हाँमें हाँ मिलाने वाले हों वह राजा शरीर, धर्म और कोशसे शीघ्र रहित (नष्ट) हो जाता है ॥ १०४ ॥

शृणु देव !—

पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं महालोभान्निध्यर्थी नापितो हतः' ॥ १०५ ॥

सुनिये महाराज ! जो वस्तु किसीने पुण्यसे पा ली वह वस्तु मुझे भी मिल जायगी, यह नहीं सोचना चाहिये; अधिक लोभसे भिखारीको मार कर एक धनका अभिलाषी नाई मारा गया' ॥ १०५ ॥

राजा पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

राजा पूछने लगा—'यह कथा कैसी है ?' मंत्री कहने लगा ।—

कथा १०

[एक क्षत्रिय, नाई और भिखारीकी कहानी १०]

'अस्त्ययोध्यायां चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टः—'यत्त्वमद्य प्रातः क्षौरं कृत्वा लगुडं हस्ते कृत्वा गृहे निभृतं स्थास्यसि ततोऽस्मिन्नेवाङ्गणे समागतं भिक्षुं पश्यसि । तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततः सुवर्णकलशो भविष्यति, तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम् ।' ततस्तथानुष्ठिते तद्वृत्तम् । तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेनालोक्य चिन्तितम्—'अये ! निधिप्राप्तेरयमुपायः । अहमप्येवं किं न करोमि ?' ततःप्रभृति नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेन' इत्यादि ।

अयोध्यामें चूडामणि नाम एक क्षत्रिय रहता था। उस धनके अभिलाषीने बड़े क्लेशसे भगवान् महादेवजीकी बहुत काल तक आराधना की। फिर जब वह क्षीणपाप हो गया तब महादेवजीकी आज्ञासे कुबेरने स्वप्नेमें दर्शन दे कर आज्ञा दी कि–जो तुम आज प्रातःकाल और क्षौर कराके लाठी हाथमें ले कर घरमें एकांतमें छुप कर बैठोगे तो इसी आँगनमें एक भिखारीको आया हुआ देखोगे। जब तुम उसे निर्दय हो कर लाठीकी प्रहारोंसे मारोगे तब वह सुवर्णका कलश हो जायगा। उससे तुम जीवनपर्यन्त सुखसे रहोगे।' फिर वैसा करने पर वही बात हुई। वहाँ क्षौर करनेके लिये बुलाया हुआ नाई सोचने लगा–'अरे! धन पानेका यही उपाय है, मैं भी ऐसा क्यों न करूं?' फिर उस दिनसे नाई वैसे ही लाठी हाथमें लिये हमेशा छिप कर भिखारीके आनेकी राह देखता रहता था। एक दिन उसने भिखारीको पा लिया और लाठीसे मार डाला। अपराधसे उस नाईको भी राजाके पुरुषोंने मार डाला। इसलिये मैं कहता हूं, "किसीको पुण्यसे मिल गई" इत्यादि।'

राजाह—

'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः॥ १०६॥

राजा बोला—'पहले हो गई कथाओंके कहनेसे नवीन आया हुआ कैसे निश्चय किया जाय कि यह अकृत्रिम बांधव है अथवा विश्वासघाती है॥१०६॥

यातु। प्रस्तुतमनुसंधीयताम्। मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णस्तदधुना किं विधेयम्?' मन्त्री वदति—'देव! आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं तन्महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे, यच्चित्रवर्णेनानादरः कृतः। ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः।

इसे जाने दो। अब जो उपस्थित है उसका विचार करो। मलय पर्वतके ऊपर जो चित्रवर्ण ठहरा है इसलिये अब क्या करना चाहिये?' मंत्री बोला–'हे महाराज! लौट कर आये हुए दूतके मुँहसे मैंने यह सुना है कि उस महामंत्री गृध्रके उपदेश पर चित्रवर्णने अनादर किया है। फिर उस मूर्खको जीत सकते हैं।

तथा चोक्तम्,—

लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः।
मूढो योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः॥ १०७॥

वैसा कहा है—लोभी, कपटी, आलसी, हठी, कायर, अधीर, मूर्ख और योद्धाओंका अनादर करने वाला शत्रु सहजमें नाश किया जा सकता है ॥१०७॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम् ।

फिर वह जब तक हमारे गढ़का द्वार न रोके तब तक पर्वत और वनके मार्गोंमें उसकी सेनाको मारनेके लिये सारस आदिको सेनापति नियुक्त कर दीजिये।

तथा चोक्तम्,—

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं नद्यद्रिवनसंकुलम् ।
घोराग्निभयसंत्रस्तं क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ १०८ ॥

वैसा कहा है—राजाको लंबे मार्गसे थकी हुई, नदी, पर्वत और वनके कारण रुकी हुई भयंकर अग्निसे डरी हुई तथा भूख-प्याससे व्याकुल हुई ॥१०८॥

प्रमत्तं भोजनव्यग्रं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १०९ ॥

(मद्यपानादिसे) मतवाली, भोजनमें आसक्त, रोग तथा अकालसे पीडित तथा आश्रयरहित, थोड़ीसी, तथा वर्षा और (शीतल) वायुसे घबराई हुई ॥ १०९ ॥

पङ्कपांशुजलाच्छन्नं सुव्यस्तं दस्युविद्रुतम् ।
एवंभूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११० ॥

कीचड़, धूलि और जलसे व्याप्त, आपत्तिसे निकलनेके यत्नमें व्याकुल, चोर आदिके उपद्रवोंसे युक्त ऐसी शत्रुकी सेनाको नाश करना चाहिये ॥ ११० ॥

अन्यच्च,—

अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥ १११ ॥

और दूसरे–घिर जानेकी शंकाके कारण रातके अधिक जागनेसे थकी हुई, दिनमें सोती हुई, निद्रासे व्याकुल शत्रुकी सेनाको राजा मार डाले ॥ १११ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः ।' तथानुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः। ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात ! किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते किं काप्यविनयो ममास्ति ?

इसलिये उस प्रमादीकी सेनाको जा कर जैसा अवसर मिले रातदिन हमारे सेनापति लूट खसोट कर मारे। ऐसा करनेसे चित्रवर्णकी सेना और बहुतसे सेनापति मारे गये; फिर चित्रवर्ण विकल हो कर अपने मंत्री दूरदर्शीसे कहने लगा—'प्यारे! किसलिये हमारा अनादर करता है? क्या कभी मैंने तेरा अनादर किया है?

तथा चोक्तम्,—

न राज्यं प्राप्तमित्येवं वर्तितव्यमसांप्रतम्।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्॥ ११२॥

जैसा कहा है—राज्य मिल गया, यह जान कर अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये। क्योंकि कठोरता निश्चय करके लक्ष्मीको ऐसे नाशमें मिला देती है जैसे सुन्दर रूप-रंगको बुढ़ापा॥ ११२॥

अपि च,—

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी।
अभ्यासी विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः॥ ११३॥

और भी-चतुर पुरुष लक्ष्मीको, सुन्दर और हलका भोजन करने वाला नीरोगताको, रोगहीन सुखको, अभ्यासी विद्याके अंतको, और सुशील अर्थात् नम्रतादिगुणोंसे युक्त मनुष्य धर्म, धन और यशको पाता है॥ ११३॥

गृध्रोऽवदत्—'देव! शृणु,—

गिद्ध बोला—'महाराज! सुनिये,—

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा॥ ११४॥

मूर्ख राजा भी पण्डितोंकी सेवासे जलके समीपके वृक्षके समान उत्तमोत्तम संपत्तिको पाता है॥ ११४॥

अन्यच्च,—

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम्॥ ११५॥

और दूसरे-मद्य आदिका पीना, परस्त्रीका संग, आखेट, जुआ, अन्यायसे पराया धन लेना, और वचन तथा दंडमें रूखाई और कठोरता ये राजाओंके अवगुण कहे हैं; अर्थात् उनका त्याग करना अवश्य है॥ ११५॥

किं च,—

न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः ॥ ११६ ॥

और (बुराई भलाईको विना विचार कर) केवल साहस करने वाला, और उपायसे उपहत चित्तवाला, अधिक ऐश्वर्यको नहीं पा सकता है, क्योंकि जहां पर नीति और शूरता रहती है वहां ही संपत्तियाँ रहती हैं ॥ ११६ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकवासिना मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते ।

और केवल साहस पर भरोसा करने वाले, आपने अपनी सेनाके उत्साहको देख कर मेरे किये उपदेशों पर ध्यान नहीं दिया था और कठोर वचन कहे थे उसी कटु नीतिका फल भोग रहे हो ।

तथा चोक्तम् ,—

दुर्मन्त्रिणं किमुपयन्ति न नीतिदोषाः
संतापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ? ॥ ११७ ॥

नीतिके दोष किस बुरे मंत्रीमें नहीं होते हैं ? किसको अपथ्य (अहितकर वस्तुएँ) खाने पर रोग नहीं पीड़ा देते हैं ? लक्ष्मी किस मनुष्यको अभिमानी नहीं करती है ? मृत्यु किसको नहीं मारती है और स्त्रीके किये हुए दुराचार किस पुरुषको दुःख नहीं देते हैं ? ॥ ११७ ॥

अपरं च,—

मुदं विषादः शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान् सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः ॥ ११८ ॥

और दूसरे-दुःख-हर्षको, हिमऋतु शरदको, सूर्य अँधेरेको, कृतघ्नता उपकार अथवा पुण्यको, अभीष्टका लाभ शोकको, नीति आपत्तिको और अनीति अतिसमृद्ध (बढ़ी हुई) संपत्तिको भी नाश कर देती है ॥ ११८ ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा । नो चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति ?

तब मैंने भी सोच लिया था कि यह राजा बुद्धिहीन है; नहीं तो कैसे नीतिशास्त्रकी कथारूपी चाँदनीको वाणीरूपी उल्कापातोंसे धुँधली करता ?

यतः,—

यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ? ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?' ॥ ११९ ॥

क्योंकि—जिस मनुष्यको अपनी बुद्धि नहीं है उसको शास्त्र क्या करता है ? जैसे दोनों आँखोंसे रहित अन्धे मनुष्यको दर्पण क्या करेगा ?' ॥ ११९ ॥

इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः । अथ राजा बद्धाञ्जलिराह—'तात ! अस्त्ययं ममापराधः । इदानीं यथावशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश ।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति—'क्रियतामत्र प्रतीकारः ।

यह जीमें विचार कर चुपका-सा हो बैठा था । पीछे राजा हाथ जोड़ कर बोला–'प्यारे ! यह मेरा अपराध हुआ । अब जैसे बची हुई सेनाके साथ लौट कर विंध्याचल पहुँच जाऊँ वैसा उपाय बता ।' गिद्ध अपने जीमें सोचने लगा,–'इसका कुछ ना कुछ उपाय करना चाहिये ।

यतः,—

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च' ॥ १२० ॥

क्योंकि—देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, बूढ़ा और रोगी इन पर क्रोध रोकना चाहिये' ॥ १२० ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव ! मा भैषीः । समाश्वसिहि शृणु देव !

मंत्री (यह अपने जीमें विचार कर) हँस कर बोला–'महाराज ! मत डरिये और धीरज धरिये, हे महाराज ! सुनिये,—

मन्त्रिणां भिन्नसंधाने भिषजां सांनिपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः ? ॥१२१॥

लड़ाईके समय शत्रुसे मेल करनेमें मंत्रियोंकी, सन्निपात(ज्वर) रोगमें वैद्योंकी और कार्योंके साधनमें दूसरोंकी बुद्धि जानी जाती है, और यों बैठें ठालें कौन पण्डित नहीं है ? ॥ १२१ ॥

अपरं च,—

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ १२२ ॥

और दूसरे—बुद्धिहीन, छोटे ही कामका आरंभ करते हैं और अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं । बुद्धिमान् बड़े बड़े काम करते हैं और कभी विकल नहीं होते हैं ॥ १२२ ॥

तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्संपद्यते ?' । गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम् । तत्सहसैव दुर्गावरोधः क्रियताम् ।'

इसलिये यहाँ आपके पुण्यप्रतापसेही गढ़को तोड़ फोड़ यश और पराक्रमसहित आपको शीघ्र विंध्याचलको ले चलूँगा ।' राजा बोला–'अब थोड़ीसी सेनासे यह कैसे होगा ?' गिद्धने कहा–'महाराज ! सब कुछ हो जायगा । क्योंकि जय चाहने वालेको दीर्घसूत्रता (कालक्षेप) न होना ही जयकी सिद्धिका अवश्य होनहार लक्षण है । इसलिये एकाएक ही गढ़ चारों ओरसे घेर लीजिये ।'

प्रहितप्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम्—'देव ! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मन्त्रोपस्तम्भेन दुर्गावरोधं करिष्यति । राजाह—'सर्वज्ञ, किमधुना विधेयम् ?' चक्रो ब्रूते—'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम् ।' तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं क्रियताम् ।

१ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंके संनिपातसे होने वाला ज्वर या अन्य रोग भयंकर प्राणघातक माने गये हैं.

भेजे हुए दूत बगुलेने लौट कर राजा हिरण्यगर्भसे यह कहा–'महाराज! राजा चित्रवर्णके पास थोड़ी ही सेना रह गई है, गिद्धके उपदेशसे गढ़ घेरेगा।' राजा बोला–'हे सर्वज्ञ! अब क्या करना चाहिये?' चकवा बोला–'अपनी सेनामें निर्बल और प्रबलका विचार कर लीजिये। वह जान कर सुवर्ण कपड़े आदि जो जिस योग्य हो उसे प्रसन्नताका दान (अर्थात्) पारितोषिक दीजिये॥

यतः,—

य: काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥ १२३॥

क्योंकि—जो राजा बुरे मार्गमें पडी हुई एक कौडीको भी हजार मोहरोंके समान जान कर उठा लेता है और फिर किसी उचित समय पर करोड़ों रुपये खर्च कर डालता है उस श्रेष्ठ राजा को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है॥ १२३॥

अन्यच्च,—

क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये
यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु॥ १२४॥

और दूसरे–महाराज! यज्ञमें, विवाहमें, विपत्तिमें, शत्रुके नाश करनेमें, यश बढ़ाने वाले कार्यमें, मित्रके आदरमें, प्रिय स्त्रियोंमें, निर्धन बान्धवोंमें इन आठ बातोंमें व्यय वृथा नहीं कहाता है॥ १२४॥

यतः,—

मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि।
कः सुधीः संत्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्॥ १२५॥

क्योंकि मूर्ख थोड़े व्ययके भयसे निश्चय करके सर्वनाश कर देता है, और कौनसा बुद्धिमान् राज्यके भयसे अपनी दुकानके द्रव्य आदिको छोड़ देता है?॥ १२५॥

राजाह–'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते? उक्तं च–"आपदर्थे धनं रक्षेत्" इति।' मन्त्री ब्रूते–'श्रीमतः कथमापदः?'। राजाह—

'कदाचिच्चलते लक्ष्मीः ।' मन्त्री ब्रूते—'संचितमपि विनश्यति। तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य दानमानाभ्यां स्वभटाः पुरस्क्रियन्ताम्।

राजा बोला—'इस समय अधिक व्यय क्यों करना चाहिये? कहा भी है—"आपत्तिके नाशके लिये धनकी रक्षा करे" इत्यादि।' मंत्री बोला—'लक्ष्मीवान्‌को आपत्ति कहाँ?' राजा बोला—'जो लक्ष्मी चली जाय तो?' मंत्री बोला—'संचित धन भी नष्ट हो जाय तो? इसलिये महाराज! कृपणताको छोड़ दान और मानसे अपने शूर वीरोंका आदर कीजिये।

तथा चोक्तम्,—

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः ।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् ॥ १२६ ॥

जैसा कहा है—आपसमें एक दूसरेकी सहायता करनेवाले, प्रसन्नचित्त, प्राणोंको (स्वामीके लिये संग्राममें) झोंकने वाले, (शत्रुके मारनेका निश्चय संकल्प करने वाले, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए) और अच्छे प्रकारसे सन्मान किये गये ऐसे शूरवीर शत्रुकी सेनाको विजय करते हैं ॥ १२६ ॥

अपरं च,—

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥ १२७ ॥

और दूसरे—अच्छे स्वभाव वाले, आपसमें मिले हुए, और बिना-मरें मारे नहीं लड़ेंगे ऐसा निश्चय करने वाले, पाँच सौ भी बड़े बड़े शूर वीर योधा वैरीकी सेनाका नाश कर देते हैं ॥ १२७ ॥

किं च,—

शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।
त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः ॥ १२८ ॥

और महामूर्ख, दुष्ट प्रकृति वाला, कृतघ्न और स्वार्थी मनुष्यको सज्जन भी छोड़ देते हैं; फिर दूसरोंका क्या कहना है? अर्थात् ऐसेको सब त्याग देते हैं ॥ १२८ ॥

यतः,—

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥ १२९ ॥

क्योंकि—सत्य, शूरता, दया और दान याने उदारता ये राजाके बड़े गुण हैं, और इन गुणोंसे रहित राजा निश्चय करके वाच्यता(निन्दा)को पाता है ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कर्तव्याः ।

ऐसे समय पर पहले मंत्रियोंका सत्कार होना चाहिये;

तथा चोक्तम्,—

योयेन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च ॥ १३० ॥

जैसा कहा है,—जो जिससे बँधा हुआ है और उसीके साथ जिसका उदय और ह्रास (क्षति) है ऐसे भरोसेके मनुष्यको प्राणोंकी रक्षाके कार्यमें लगाना चाहिये ॥ १३० ॥

यतः,—

धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥ १३१ ॥

क्योंकि—जिस राजाके धूर्त, स्त्री अथवा बालक मंत्री हों वह अनीतिरूपी पवनसे उड़ाया हुआ कार्यरूपी समुद्रमें डूबता है ॥ १३१ ॥

शृणु देव !—

हर्षक्रोधौ समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य स्याद्धनदा धरा ॥ १३२ ॥

महाराज ! सुनिये—जिसको हर्ष और क्रोध समान हैं, शास्त्रमें भरोसा है और सेवकों पर अतिस्नेह है उसको पृथ्वी सतत धन देनेवाली होती है ॥१३२॥

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।
अमात्या इति तान्राजा नावमन्येत्कदाचन ॥ १३३ ॥

जिन्होंकी राजाके साथ निश्चय करके घटती और बढ़ती हो वे मंत्री कहाते हैं और राजाको उनका कभी अपमान नहीं करना चाहिये ॥ १३३ ॥

यतः,—

महीभुजो मदान्धस्य संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥ १३४ ॥

और मतवाले हाथीके समान गिरते हुए मदांध राजाको स्निग्ध अंतःकरणवाले मंत्रीका अच्छा उपदेशही करावलंब अर्थात् हाथसे सहारा देनेके समान है ॥

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु । इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्तते । तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि । तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि ।' चक्रो ब्रूते—'मैवम् । यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम् ।

फिर मेघवर्णने आ कर प्रणाम करके कहा—'हे महाराज ! कृपा कर देख लीजिये । अब शत्रु गढ़के द्वारमें आ पहुँचा है । इसलिये आपकी आज्ञासे बाहर निकल कर अपना पराक्रम दिखलाऊँ जिससे महाराजके ऋणसे मैं उनंतर हो जाऊँ ।' चकवा बोला—'ऐसा मत कर, जो बाहर निकल कर हम लड़ेंगे तो गढ़का आसरा ही वृथा है ।

अपरं च,—

विषमो हि यथा नक्रः सलिलान्निर्गतोऽवशः ।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत् ॥ १३५ ॥

और दूसरे—जैसे भयंकर मगर पानीसे बाहर निकल कर विवश हो जाता है, वैसे ही वनसे निकल कर पराक्रमी सिंह भी गीदड़के समान हो जाता है ॥१३५॥

देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम् ।

महाराज ! आप चल कर युद्ध देखिये;

यतः,—

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम् ?' ॥१३६॥

क्योंकि—राजा आप देखता हुआ सेनाको आगे करके लड़ावे, क्योंकि स्वामीसे लड़काया हुआ कुत्ता भी क्या सचमुच सिंहकी भाँति बल नहीं दिखाता है ? अर्थात् अवश्य ही दिखाता है ॥ १३६ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।' गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्;

---

१ 'नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति'—मगर पानीमें रह कर बड़े हाथीकोभी खींच सकता है, पर बाहर निकलनेसे तो विवश हो जाता है.

[illegible]
दिन राजा चित्रवर्णगिद्धसे बोला–'प्यारे! अब अपनी प्रतिज्ञाका पालन कर।' गिद्ध बोला–'महाराज! पहले सुन लीजिये,—

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम्।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३७ ॥

बहुत काल तक घेरा न सहने वाला अर्थात् कचा, अत्यंत स्वल्प सैन्य-युक्त, मूर्ख और मद्यपानादि दोषयुक्त नायक जिसका हो, जिसकी अच्छे प्रकारसे रक्षा नहीं की गई हो और जिसमें कायर और डरपोक योद्धा हों वह गढ़की विपत्ति कही गई है ॥ १३७ ॥

तत्तावदत्र नास्ति।

सो बात तो यहाँ नहीं है।

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम्।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १३८ ॥

गढ़की भीतरी सेनामें किसी भेदियेको भेज कर फूट करा देना, बहुत काल तक चारों ओरसे घेरे पड़े रहना, बार बार शत्रु पर चढ़ाई करना और अत्यन्त साहस दिखलाना ये चार गढ़के जीतनेके उपाय हैं ॥ १३८ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः (कर्णे कथयति।) एवमेवम्।' ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः। ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः।

इसमें शक्तिके अनुसार उपाय किया जाता है। (कानमें कहने लगा) इस प्रकार इस प्रकार।' फिर एक दिन सूर्यके विना ही निकले गढ़के चारों द्वारों पर घनघोर युद्ध होने पर गढ़के भीतरके डेरोंमें कौओंने आग लगा दी। फिर तो "गढ़को ले लिया ले लिया।" यह हुर्रा सुन कर चारों ओर आगको धधकती हुई देख कर राजहंसकी सेनाके शूर वीर और गढ़के रहने वाले शीघ्र सरोवरमें घुस गये।

यतः,—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्' ॥ १३९ ॥

अवसरके आ पड़ने पर अच्छा उपाय, अच्छी भाँति पराक्रम, भली भाँति युद्ध और जी ले कर भागना इन बातोंको जैसा बन पड़े अपनी शक्तिके अनुसार करना ही चाहिये और सोचना नहीं चाहिये' ॥ १३९ ॥

राजहंसः स्वभावान्मन्दगतिः सारसद्वितीयश्च चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सारसमाह— 'सारस सेनापते ! ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयिष्यसि? त्वमधुना गन्तुं शक्तः । तद्गत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष । अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञसंमत्या राजानं करिष्यसि ।' सारसो ब्रूते—'देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः । यावच्चन्द्रार्कौ दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः । अहं देवदुर्गाधिकारी । मन्मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना प्रविशतु शत्रुः ।

राजहंस तो स्वभावहीसे धीरे चलने वाला था और उसके साथी सारसको चित्रवर्णके सेनापति मुर्गेने आ कर घेर लिया । हिरण्यगर्भने सारससे कहा-'हे सेनापति सारस ! हमारे पीछे अपनेको क्यों मारता है ? तू अभी जा सकता है; इसलिये जा कर, जलमें घुस और अपनी रक्षा कर । मेरे चूड़ामणि नाम बेटेको सर्वज्ञकी संमतिसे राजा कर दीजिये ।' सारसने कहा-'महाराज ! इस प्रकार कठोर वचन नहीं कहना चाहिये । जब तक आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा ठहरे हुए हैं तब तक महाराजकी जय हो । महाराज ! मैं गढ़का अधिकारी हूँ; मेरे मांस और लोहूसे सने हुए द्वारके मार्गसे भलेही शत्रु घुस जाय;

अपरं च,—

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ।'

और दूसरे—दाता, क्षमावान्, गुणग्राही स्वामी दुःखसे मिलता है ।'

राजाह—'सत्यमेवैतत् ।

राजा बोला-'यह तो ठीक ही है;

किंतु,—

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४० ॥

परंतु,-मैं जानता हूँ कि नेक, सच्चा, चतुर और स्वामीकी चाहमें चलने वाला सेवक तो मिलना भी कठिन है ॥ १४० ॥

सारसो ब्रूते—'शृणु देव !

सारसने कहा-'महाराज ! सुनिये,—

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः,
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ? ॥ १४१ ॥

जो युद्धको छोड़ कर जानेमें मृत्युका भय न हो तो यहाँसे अन्य कोई स्थानमें चले जाना ठीक है; पर प्राणीका मरण अवश्य ही है इसलिये जा कर क्यों वृथा अपना यश मलिन करना चाहिये ? ॥ १४१ ॥

अन्यच्च,—

भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४२ ॥

और दूसरे-वायुसे उठी हुई लहरियोंके खेलके समान क्षणभंगुर इस असार संसारमें पराये उपकारके लिये प्राणोंका त्याग बड़े पुण्यसे होता है ॥ १४२ ॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ १४३ ॥

और स्वामी, मंत्री, राज्य, गढ़, कोश, सेना, मित्र और पुरवासियोंके समूह ये राज्यके अंग हैं ॥ १४३ ॥

देव ! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः ।

और हे महाराज ! आप स्वामी हैं, आपकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये;

यतः,—

प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि ? ॥ १४४ ॥

क्योंकि—स्वामीको त्याग कर प्रजा, सब ऐश्वर्यसे युक्त भी नहीं जी सकती है, जैसे आयु का अंत होने पर धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकता है ? ॥ १४४ ॥

अपरं च—

नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्'॥ १४५॥

और दूसरे–सूर्यके उदय तथा अस्त होनेसे कमलके समान, राजाके मरने पर यह जीवलोक मरता है और उदय होने (जीने) पर जीता है' ॥ १४५ ॥

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः। तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः। अथ कुक्कुटैर्नखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हताः। पश्चात्सारसोऽपि चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा वन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम॥

फिर मुर्गेने आ कर राजहंसके शरीर पर बड़े तीखे तीखे नोहड़े मारे। तब सारसने तुरन्त पास जा कर और अपनी देहसे छिपा कर राजाको जलमें फेंक दिया। फिर मुर्गोंके नोहड़ोंसे व्याकुल हुए सारसने मुर्गोंकी सेनाको बहुत मारा। पीछे सारस भी चोंचोंके प्रहारसे छिद कर मारा गया। फिर चित्रवर्ण गढ़में घुस कर गढ़में धरे हुए द्रव्यको लिवा कर बंदिजनोंके जय जय शब्दसे प्रसन्न होता हुआ अपने डेरेमें चला गया।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजबले स पुण्यवान् सारस एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः।

फिर राजकुमारोंने कहा–'उस राजाकी सेनामें एक सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपनी देहको त्याग करके स्वामीकी रक्षा की।

उक्तं चैतत्,—

जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव गवाकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्'॥ १४६॥

और ऐसा कहा है कि–सभी गायें गौके आकारके समान बछड़ोंको जनती हैं, परन्तु दोनों सींगोंसे ऊंचे दीखते हुए कंधे वाले साँड़को विरलीही जननी है' १४६

विष्णुशर्मोवाच—'स तावद्विद्याधरीपरिजनः स्वर्गसुखमनुभवतु महासत्त्वः।

विष्णुशर्मा बोले-'वह महात्मा सारस विद्याधरियोंके परिवारके साथ स्वर्गका सुख भोगें।

तथा चोक्तम्,—

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १४७॥

जैसा कहा है-जिन शूर वीरोंने संग्राममें अपने स्वामीके लिये प्राणत्याग किए हैं वे स्वामीके भक्त तथा राजाके उपकारको मानने वाले मनुष्य स्वर्गको पाते हैं ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १४८ ॥

और जिस किसी स्थानमें शत्रुओंसे घिर कर मरा हुआ शूर जो युद्धभूमि छोड़ नहीं भागा तो वह अमर लोकोंको पाता है ॥ १४८ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः?' । राजपुत्रैरुक्तम्,—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम्।'

'आपने विग्रह सुन लिया।' राजपुत्रोंने कहा-'हम सुन कर बहुत संतुष्ट हुए।'

विष्णुशर्माऽब्रवीत्—'अपरमप्येवमस्तु—

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-
र्नो कदापि भवतां महीभुजाम्।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः' ॥ १४९ ॥

इति हितोपदेशे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः समाप्तः।

विष्णुशर्मा बोले-'यह और भी हो-आपके समान महाराजाओंका कभी हाथी घोड़े और पैदल आदि सेनासे संग्राम न हो और नीतिके मंत्ररूपी पवनसे उड़ाये गये शत्रु पर्वतकी गुफामें (जा कर) आसरा लें' ॥ १४९ ॥

पं० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रंथके विग्रह नामक तीसरे भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ. शुभम्.

हितोपदेशः

संधिः ४

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः; संधिरधुनाऽभिधीयताम् ।'

फिर कथाके आरम्भमें राजपुत्रोंने कहा-'हे गुरुजी! हम विग्रह सुन चुके; अब सन्धि सुनाइये ।'

विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्; संधिमपि कथयामि यस्यायमाद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात्' ॥ १ ॥

विष्णुशर्माने कहा-'सुनिये, संधि भी कहता हूँ कि जिसके आदिका यह वाक्य है—दोनों राजाओंकी सेनाके मरने पर और घनघोर युद्ध होने पर गिद्ध और चकवेने पंच बन कर शीघ्र मेल करा दिया' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले-'यह कथा कैसी है ?' विष्णुशर्मा कहने लगे ।—

कथा १

[हंस और मोरके मेलके लिए कहानी १]

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—'केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः? किं पारक्येण किं वाऽस्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन?' । चक्रो ब्रूते—'देव! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते। तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।' राजा क्षणं विचिन्त्याह—'अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत् ।

फिर उस राजहंसने कहा-'हमारे किलेमें किसने आग लगाई है ? शत्रुने अथवा शत्रुसे सिखाये हुए किसी हमारे गढ़के रहनेवालेने ? ।' चकवा बोला—महाराज! आपका अकृत्रिम बन्धु वह मेघवर्ण अपने परिवारसहित नहीं दीखता

है इसलिये यह उसीका काम दीख पड़ता है।' राजाने क्षण भर सोच कर कहा-'यह मेरी प्रारब्ध ही फूटी है;

तथा चोक्तम्,—

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम्।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति'॥ २॥

जैसा कहा है—वह प्रारब्धका दोष है, मंत्रियोंका कुछ दोष नहीं है, क्योंकि कहीं अच्छे प्रकारसे किया हुआ काम भी भाग्यके वशसे बिगड़ जाता है' ॥२॥

मन्त्री ब्रूते—'उक्तमेवैतत्,—
मंत्री बोला—ऐसा भी कहा है,—

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः॥ ३॥

मूर्ख मनुष्य बुरी दशाको पा कर भाग्यकी निन्दा करता है और यह अपने कर्मका दोष ऐसा नहीं मानता ॥ ३ ॥

अपरं च,—

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति'॥ ४॥

और दूसरे-जो मनुष्य हितकारी मित्रोंका वचन नहीं मानता है वह मूर्ख काठसे गिरे हुए कछुएके समान मरता है' ॥ ४ ॥

राजाह—'कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति—
राजा बोला-'यह कथा कैसी है?' मंत्री कहने लगा।—

कथा २

[दो हंस और उनका स्नेही कछुएकी कहानी २]

'अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं संकट-विकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति। अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्—'तदत्रास्माभिर्-उषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः।' तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह—'सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवरालापः; अधुना किं मया कर्त-

व्यम् ?।' हंसावाहतुः—'ज्ञायताम् । पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम् ।' कूर्मो ब्रूते—'मैवम् । यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र ।

'मगध देशमें फुल्लोत्पल नाम एक सरोवर है । वहाँ बहुत कालसे संकट और विकट नामक दो हंस रहा करते थे और उन दोनोंका मित्र एक कम्बुग्रीव नाम कछुआ रहता था । फिर एक दिन धीवरोंने वहाँ आ कर कहा कि—आज हम यहाँ रह कर प्रातःकाल मछली कछुआ आदि मारेंगे' यह सुन कर कछुआ हंसोंसे कहने लगा—'मित्रो ! धीवरोंकी यह बात मैंने सुनी । अब मुझे क्या करना उचित है ? हंसोंने कहा–'समझलो । फिर प्रातःकाल जो उचित हो सो करना।' कछुआ बोला–'ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं यहाँ पर भय देख चुका हूं ।

तथा चोक्तम् ,—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ५ ॥

जैसा कहा है–अनागतविधाता याने आगे होने वाली बातको प्रथमही सोचने वाला और प्रत्युत्पन्नमति अर्थात् अवसर जान कर कार्य करने वाला इन दोनोंने आनंद भोगे हैं और यद्भविष्य मारा गया' ॥ ५ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?' । कूर्मः कथयति—

वे दोनों बोले–'यह कथा कैसे है ?' कछुआ कहने लगा ।—

कथा ३

[दूरदर्शी दो मच्छ और यद्भविष्य मच्छकी कहानी ३]

'पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेषु धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचितम् । तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनालोचितम्—'अहं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' इत्युक्त्वा ह्रदान्तरं गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्—'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात् कुत्र मया गन्तव्यम् ? तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम् ।

'पहले इसी सरोवर पर जब ऐसे ही धीवर आये थे तब तीन मछलियोंने विचार किया । और उनमें अनागतविधाता नाम एक मच्छ था, उसने विचार किया–'मैं तो दूसरे सरोवरको जाता हूँ ।' इस प्रकार कह कर वह दूसरे सरोवरको चला गया ।

फिर दूसरे प्रत्युत्पन्नमति नाम मच्छने कहा–'होने वाले काममें निश्चय न होनेसे मैं कहाँ जाऊँ? इसलिये काम आ पड़ने पर जैसा होगा वैसा करूंगा।

तथा चोक्तम्,—

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निहुतो यथा'॥ ६॥

जैसा कहा है—जो उत्पन्न हुई आपत्तिका उपाय करता है वह बुद्धिमान् है, जैसे कि बनियेकी स्त्रीने प्रत्यक्षमें जारको छुपा लिया'॥ ६॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?'। प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

यद्भविष्य पूछने लगा–'यह कथा कैसी है?' प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा।—

कथा ४

[एक बनिया, उसकी व्यभिचारिणी स्त्री और उसके यारकी कहानी ४]

'पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते। अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह—'नाथ! एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः। यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति मयाऽस्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्।' तथा चोक्तम्—"आहारो द्विगुणः स्त्रीणाम्" इत्यादि।' तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्—'नाथ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यं यत्र प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति।' ततोऽसावुत्थाय चलितः साधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि–"उत्पन्नामापदम्" इत्यादि॥'

'किसी समय विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नाम एक बनिया रहता था। उसकी रत्नप्रभा नाम स्त्री अपने सेवकके संग सदा व्यभिचार किया करती थी। पीछे एक दिन उस रत्नप्रभाको उस सेवकका मुखचुम्बन करते हुए समुद्रदत्तने देख लिया। फिर वह व्यभिचारिणी शीघ्र अपने पतिके पास आ कर बोली—

'स्वामी ! इस सेवकको बड़ा सुख है, क्योंकि यह चोरी करके कपूर खाया करता है, यह मैंने इसका मुख सूँघ कर जान लिया ।' जैसा कहा है–'स्त्रियोंका भोजन दूना होता है' इत्यादि ।' यह सुन कर सेवकने क्रोध कर कहा–'हे स्वामी ! जिस स्वामीकी ऐसी स्त्री है वहाँ सेवक कैसे टिक सकता है कि जहाँ क्षणक्षणमें घरवाली सेवकका मुख सूंघती है ?' फिर वह उठ कर जाने लगा, तब बनियेने बड़ी कोशिससे समझा कर रख उसे लिया । इसलिये मैं कहता हूँ–"आपत्तिके उत्पन्न होने पर" आदि ।'

ततो यद्भविष्येणोक्तम्,—

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ?' ॥ ७ ॥

फिर यद्भविष्यने कहा–'जो होनहार नहीं है वह कभी नहीं होगा, और जो होनहार है उससे उलटा कभी न होगा अर्थात् होनहार अवश्य होगा यह चिंतारूपी विषका नाश करने वाली औषध क्यों नहीं पीते हो ?' ॥ ७ ॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः । ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः । यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि–"अनागतविधाता" इत्यादि ॥ तद्यथाहमन्यह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम् ।' हंसावाहतुः—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्, स्थले गच्छतस्ते को विधिः ?' कूर्म आह—'यथाऽहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम् ।' हंसौ ब्रूतः—'कथमुपायः संभवति ?' । कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्ब्य गन्तव्यम् । युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम् ।'

फिर प्रातःकाल जालसे बँध कर प्रत्युत्पन्नमति अपनेको मरेके समान दिखला कर बैठा रहा । फिर जालसे बाहर निकाला हुआ अपनी शक्तिके अनुसार उछल कर गहरे पानीमें घुस गया और यद्भविष्यको धीवरोंने पकड़ लिया और मार डाला । इसलिये मैं कहता हूँ, "अनागतविधाता" इत्यादि—॥ सो जिस प्रकार मैं दूसरे सरोवरको पहुंच जाऊं वैसे करो ।' दोनों हंस बोले–'दूसरे सरोवरके

१ सुहृद्भेदका ११९ वाँ श्लोक देखो ।

जानेमें तुम्हारी कुशल है। परंतु पटपथमें तुम्हारे जानेका कौनसा उपाय है?' कछुआ बोला—'जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ आकाशमार्गसे जाऊँ वैसा करो।' हंसोंने कहा-'उपाय कैसे हो सकता है?' कछुएने कहा—'तुम दोनों एक काठके टुकड़ेको चोंचसे पकड़ लो और मैं मुखसे पकड़ कर चलूंगा और तुम्हारे पंखोंके बलसे मैं सुखसे पहुँच भी जाऊँगा।'

हंसौ ब्रूतः—'संभवत्येष उपायः; किंतु,—

हंस बोले-'यह उपाय तो हो सकता है; परंतु,—

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः' ॥ ८ ॥

पण्डितको उपाय सोचना चाहिये साथ साथ और विपत्तिका भी विचार करना चाहिये। जैसे मूर्ख बगुलेके देखते देखते नेवले सब बच्चे खा गये' ॥ ८ ॥

कूर्मः पृच्छति—'कथमेतत्?'। तौ कथयतः—

कछुआ पूछने लगा-'यह कथा कैसी है?' वे दोनों कहने लगे।—

कथा ९

[बगुले, साँप और नेवलेकी कहानी ५]

'अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः। तत्रानेकबका निवसन्ति। तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पो बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां बकानां विलापं श्रुत्वा केनचिद्वकेनाभिहितम्—'एवं कुरुत। यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण विकिरत। तलस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च।' तथानुष्ठिते तद्वृत्तम्। ततस्तत्र वृक्षे नकुलैर्बकशावकरावः श्रुतः। पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूवः—"उपायं चिन्तयन्" इत्यादि॥ आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किंचिद्वक्तव्यमेव। तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तत्सर्वथाऽत्रैव स्थीयताम्।' कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः? नाहमुत्तरं दास्यामि किमपि न वक्तव्यम्। तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च।

कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः।' कश्चिद्वदति—'अत्रैव दग्ध्वा खादितव्योऽयम्।' कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्।' इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"सुहृदां हितकामानाम्" इत्यादि ॥' अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितम्। दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम्। दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः।'

'उत्तर दिशामें गृध्रकूटक नाम पर्वत पर एक बड़ा पीपलका पेड़ है। उस पर बहुतसे बगले रहते थे। उस वृक्षके नीचे बिलमें एक साँप बगुलोंके छोटे छोटे बच्चोंको खा लिया करता था। फिर शोकसे व्याकुल बगुलोंके विलापको सुन कर किसी बगुलेने कहा—'ऐसा करो। तुम मछलियोंको ले कर नेवलेके बिलसे साँपके बिले तक लगातार फैला दो। फिर उनको खानेके लोभी नेवले वहाँ आ कर साँपको देखेंगे और अपने स्वभावके वैरसे उसे मार डालेंगे। ऐसा करने पर वैसा ही हुआ। पीछे उस वृक्षके ऊपर नेवलोंने बगुलोंके बच्चोंका चहचहाट सुना। फिर उन्होंने पेड़ पर चढ़ कर बगुलोंके बच्चे खा लिये। इसलिये हम दोनों कहते हैं कि "उपायको सोचना चाहिये" इत्यादि। और हम दोनोंसे ले जाते हुए तुमको देख कर लोक कुछ कहेंगेही। वह सुन कर जो तुम उत्तर दोगे तो तुम मरोगे। इसलिये चाहे जो कुछ भी हो, पर यहाँ ही रहो।' कछुआ बोला-'क्या मैं मूर्ख हूँ? मैं उत्तर नहीं दूँगा। कुछ न बोलूँगा। और वैसा करने पर कछुएको वैसा देख कर सब ग्वाले पीछे दौड़े और कहने लगे: कोई कहता था—जो यह कछुआ गिर पड़े तो यहाँ ही पका कर खा लेना चाहिये। कोई कहता था—यहाँ ही इसे भून कर खा लें। कोई कहता था कि घर ले चल कर खाना चाहिये। उन सभीका वचन सुन कर वह कछुआ क्रोधयुक्त हो कर पहले उपदेशको भूल कर बोला—'तुम सभीको धूल फाँकनी चाहिये।' यह कहतेही गिर पड़ा और उन्होंने मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ—"हितकारी मित्रोंका" इत्यादि।' फिर दूत बगुला वहाँ आ कर बोला-'हे महाराज! मैंने तो पहले ही जता दिया था कि गढ़का

संशोधन क्षणक्षणमें अवश्य करना चाहिये। [illegible] आपने नहीं किया इसलिये उस भूलका फल भुगता। गिद्धके सिखाये भलाये मेघवर्ण कौएने दुर्ग जला दिया।

राजा निःश्वस्याह,—

> 'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु।
> स सुप्त इव वृक्षाग्रात् पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ ९ ॥

राजाने साँस भर कर कहा—'जो मनुष्य स्नेहसे अथवा उपकारसे शत्रुओं पर विश्वास करता है वह सोये हुएके समान वृक्षकी फुनगीसे गिर कर जाग पड़ता है, अर्थात् आपत्तिमें पड़ कर उसे जानता है' ॥ ९ ॥

प्रणिधिरुवाच—'इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्।

दूत बोला—'यहाँसे गढ़का दाह करके जब मेघवर्ण गया तब चित्रवर्णने प्रसन्न हो कर कहा—'इस मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्य पर राजतिलक कर दो।

तथा चोक्तम्,—

> कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत्।
> फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत्' ॥ १० ॥

जैसा कहा है—जिस सेवकने कार्य सिद्ध किया है उसके किये हुए कृत्यको कभी निष्फल नहीं करना चाहिये; वरना पारितोषिकसे, मनसे, वचनसे और दृष्टिसे, उसको प्रसन्न करना चाहिये' ॥ १० ॥

चक्रवाको ब्रूते—'ततस्ततः?।' प्रणिधिरुवाच—'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्—'देव! नेदमुचितम्। प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम्।

चकवा पूछने लगा—'उसके पीछे फिर क्या हुआ?' दूत बोला—'पीछे प्रधान मंत्री गिद्धने कहा—'महाराज! यह बात उचित नहीं है, कुछ दूसरे भी प्रसाद कीजिये;

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन् ! वालुकास्विव मुद्रितम् ॥ ११ ॥

क्योंकि—हे राजन् ! पूर्वापरको नहीं विचारने वालेको उपाय बतलाना भुसीके पीसनेके समान बेखारथ है और नीचोंमें उपकार करना धुलिमें चिह्न करनेके समान है, अर्थात् जैसा धुलिका चिह्न थोड़ीसी देरमें मिट जाता है वैसा नीचोंमें किया हुआ उपकार और अविचारी पुरुषोंमें उपदेश किया हुआ नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः ।
ऊँचे ओहदे पर नीचकी नियुक्ति कभी नहीं करनी चाहिये । जैसा कहा है—
तथा चोक्तम्,—

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १२ ॥

नीच अच्छे पदको पा कर स्वामीको मारना चाहता है, जैसे चूहा व्याघ्रत्वको पा कर मुनिको मारने चला' ॥ १२ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—
चित्रवर्ण पूछने लगा—'यह कथा कैसी है ?' मंत्री कहने लगा ।—

कथा ६

[महातप नामक संन्यासी और एक चूहेकी कहानी ६]

'अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेन मुनिना काकेन नीयमानो मूषिकशावको दृष्टः । ततः स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः । ततो विडालस्तं मूषिकं खादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्—'मूषिक ! त्वं मार्जारो भव ।' ततः स विडालः कुकुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोक्तम्—'कुकुराद्बिभेषि ? । त्वमेव कुकुरो भव ।' स च कुकुरो व्याघ्राद्बिभेति । ततस्तेन मुनिना कुकुरो व्याघ्रः कृतः ।

---

१ 'नीचेषूपकृत राजन् ! वालुकास्विव मूत्रितम्' यह भी पाठ प्रचलित है, जिसका अर्थ—नीच पुरुषमें उपकार करना तो सचमुच धूलि(रेत)में मूतने के समान है'

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं दृष्ट्वा व्याघ्रं च सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः ।' एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रोऽचिन्तयत्—'यावदनेन मुनिना स्थीयते तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव' इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—"नीचः श्लाघ्यपदं" इत्यादि ॥

'गौतम महर्षिके तपोवनमें महातपा नाम एक मुनि था । वहाँ उस मुनिने कौएसे लाये हुए एक चूहेके बच्चेको देखा । फिर स्वभावसे दयामय उस मुनिने तृणके धान्यसे उसको बड़ा किया । फिर बिलाव उस चूहेको खानेको दौड़ा । उसे देख कर चूहा उस मुनिकी गोदमें चला गया । फिर मुनिने कहा कि-'हे चूहे ! तू बिलाव हो जा ।' फिर वह बिलाव कुत्तेको देख कर भागने लगा । फिर मुनिने कहा-'तू कुत्तेसे डरता है ? जा तू भी कुत्ता हो जा ।' बाद वह कुत्ता बाघसे डरने लगा । फिर उस मुनिने उस कुत्तेको बाघ कर दिया । वह मुनि, उस बाघको "यह तो चूहा है" ऐसे (उसे असली स्वरूपसे) देखता था । उस मुनिको और व्याघ्रको देख कर सब लोग कहा करते थे कि "इस मुनिने इस चूहेको बाघ बना दिया है ।" यह सुन कर वह बाघ सोचने लगा-'जब तक यह मुनि जिंदा रहेगा तब तक यह मेरा अपयश करने वाले स्वरूपकी कहानी नहीं मिटेगी ।' यह विचार कर चूहा उस मुनिको मारनेके लिये चला । फिर मुनिने यह जान कर "फिर चूहा हो जा" यह कह कर चूहाही कर दिया । इसलिये मैं कहता हूँ—"नीच ऊँचा पद पर" इत्यादि;

अपरं च, सुकरमिदमिति न मन्तव्यम् । शृणु,—

और दूसरे-यह बात सुलभ है ऐसा नहीं जानना चाहिये । सुनिये,—

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात् ॥ १३ ॥

एक बगुला बहुतसे बड़े छोटे, और मध्यम मच्छोंको खा कर अधिक लोभसे कर्कटके पकड़नेसे मारा गया' ॥ १३ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

चित्रवर्ण पूछने लगा—'यह कथा कैसी है ?' मंत्री कहने लगा ।—

कथा ७

[बूढे बगुले, केंकडे और मछलीकी कहानी ७]

'अस्ति मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः। तत्रैको वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः। स च केनचित्कुलीरेण दृष्टः पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति ?' बकेनोक्तम्-'मत्स्या मम जीवनहेतवः ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। अतो वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाऽऽहारेऽप्यनादरः कृतः।' ततो मत्स्यैरालोचितम्—'इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते। तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम्।

'मालव देशमें पद्मगर्भ नाम एक सरोवर है। वहाँ एक बूढ़ा बगुला सामर्थ्यरहित सोचमें डूबे हुएके समान अपना स्वरूप बनाये बैठा था। तब किसी कर्कटने उसे देखा और पूछा—'यह क्या बात है ? तुम भूखे प्यासे यहाँ बैठे हो ?' बगुलेने कहा—'मच्छ मेरे जीवनमूल हैं। उन्हें धीवर आ कर मारेंगे यह बात मैंने नगरके पास सुनी है। इसलिये जीविकाके न रहनेसे मेरा मरणही आ पहुँचा, यह जान कर मैंने भोजनमें भी अनादर कर रक्खा है।' फिर मच्छोंने सोचा-'इस समय तो यह उपकार करने वाला ही दीखता है इसलिये इसीसे जो कुछ करना है सो पूछना चाहिये।

तथा चोक्तम्,—

उपकर्त्राऽरिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः' ॥ १४ ॥

जैसा कहा है कि—उपकारी शत्रुके साथ मेल करना चाहिये और अपकारी मित्रके साथ नहीं करना चाहिये, क्योंकि निश्चय करके उपकार और अपकार ही मित्र और शत्रुके लक्षण हैं ॥ १४ ॥

मत्स्या ऊचुः-'भो बक ! कोऽत्र रक्षणोपायः ?'। बको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि।' मत्स्या आहुः—'एवमस्तु।' ततोऽसौ बकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति।' अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच—'भो बक ! मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी

सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु, इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि' इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद। स बकः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्" इत्यादि॥' ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन्! मयैतदालोचितमस्ति।' अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि। तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्।'

मच्छ बोले–'हे बगुले! इसमें रक्षाका कौनसा उपाय है? तब बगुला बोला–दूसरे सरोवरका आश्रय लेना ही रक्षाका उपाय है। वहाँ मैं एक एक करके तुम सबको पहुँचा देता हूँ।' मच्छ बोले–'अच्छा, ले चलो।' पीछे यह बगुला उन मच्छोंको एक एक ले जा कर खाने लगा। इसके पीछे कर्कट उससे बोला–'हे बगुले! मुझे भी वहाँ ले चल।' फिर अपूर्व कर्कटके मांसका लोभी बगुलेने आदरसे उसे भी वहाँ ले जा कर पटपड़में धरा। कर्कट भी मच्छोंकी हड्डियोंसे बिछे हुए उस पड़ावको देख कर चिन्ता करने लगा–'हाय मैं मन्दभागी मारा गया। जो कुछ हो, अब समयके अनुसार उचित काम करूँगा।' यह विचार कर कर्कटने उसकी नाड़ काट डाली और वह बगुला मर गया। इसलिये मैं कहता हूँ "बहुतसे मच्छोंको खा कर" इत्यादि। फिर चित्रवर्ण बोला–'हे मंत्री! सुनो, मैंने तो यही सोच रक्खा है। वहाँ बैठा हुआ राजा मेघवर्ण जितनी उत्तम वस्तुएँ कर्पूरद्वीपकी हैं उतनी हमारे पास भेटमें लावेगा। उससे हम विन्ध्याचलमें आनन्दसे रहेंगे।'

दूरदर्शी विहस्याह—'देव!

दूरदर्शी हँस कर बोला—'हे महाराज!

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा'॥ १५॥

जो नहीं आई हुई चिंताको करके प्रसन्न होता है वह मट्टीके बर्तन फोड़ने वाले ब्राह्मणके समान अपमानको पाता है'॥ १५॥

राजाह—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

राजा बोला–'यह कथा कैसी है?' मंत्री कहने लगा।—

कथा ८

[देवशर्मा नामक ब्राह्मण और कुम्हारकी कहानी ८]

'अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महाविषुवसंक्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः। तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान् प्राप्स्यामि तदाऽत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिकमुपक्रीयानेकधावृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय विक्रीय लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति तदा कोपाकुलोऽहं ता लगुडेन ताडयिष्यामि' इत्यभिधाय लगुडः क्षिप्तः। तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देनागतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपाद्बहिःकृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"अनागतवतीं चिन्ताम्" इत्यादि ॥' ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात! यथा कर्तव्यं तथोपदिश।'

'देवीकोट नाम एक नगरमें देवशर्मा नाम ब्राह्मण रहता था। उसने मेषकी संक्रान्ति पर सत्तूसे भरा एक सकोरा पाया। उसको ला कर वह कुम्हारके बर्तनोंसे भरे हुए अवेकी एक ओर गरमीके कारण सो गया। फिर सत्तूकी रखवालीके लिये हाथमें एक लकड़ी ला कर सोचने लगा कि–'जो मैं सत्तूके सकोरेको बेच कर दस कौड़ी पाऊंगा तो यहाँ ही उन कौड़ियोंसे घड़े, सकोरे आदि मोल ले कर अनेक रीतिसे बढ़ाये हुए उस धनसे बार बार सुपारी कपड़े आदि मोल ले कर और बेच कर लाखों रुपयेका धन इकट्ठा करके चार विवाह करूँगा। फिर उन स्त्रियोंमें जो रूपरंगमें अच्छी होगी उसी पर अधिक स्नेह करूँगा, और सौतें जब लड़ाई करेंगी तब क्रोधसे उखता कर मैं उन्हें लकड़ीसे मारूँगा—यह कह कर लकड़ी फेंकी। उससे सत्तूका सकोरा चूर चूर हो गया और बहुतसे बर्तन भी फूट गये। फिर उस शब्दको सुन कुम्हार आया। उसने वैसे फूटे टूटे बर्तनोंको देख कर ब्राह्मणका तिरस्कार किया और अवेसे बाहर निकाल दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—"विना आई चिताको" इत्यादि।' फिर राजा एकांतमें गिद्धसे बोला–'प्यारे! जो करना हो सो कहो।

गृध्रो ब्रूते,—

'मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ १६ ॥

गिद्ध बोला—'कुमार्गमें जाने वाले अर्थात् अनुचित काम करने वाले अभिमानी राजाके मंत्री लोग, कुमार्गमें जाने वाले तथा मत वाले हाथीवानोंके समान, निश्चय करके निन्दाको पाते हैं ॥ १६ ॥

शृणु देव! किमस्माभिर्बलदर्पाद्दुर्गं भग्नम्? न; किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन।' राजाह—'भवतामुपायेन।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते तदा स्वदेशो गम्यताम्। अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनर्विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति। सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम्। दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव। मम संमतं तावदेतत्।

सुनिये महाराज! क्या हमने बलके घमंडसे गढ़ तोड़ा है? यह बात नहीं है। परन्तु आपके प्रतापसे निश्चित किये उपायसे तोड़ा है।' राजा बोला—'तुम्हारे उपायसे टूटा है।' गिद्ध बोला—'जो मेरा कहना मानो तो अपने देशमें चले चलो। नहीं तो वर्षा आने पर फिर लड़ाई होनेमें, पराई भूमिमें रहने वाले हम लोगोंका अपने देशको जाना भी कठिन होगा। इसलिये सुख और शोभाके लिये मेल करके चलिये, गढ़ टूट गया और यश भी मिला। मेरी तो यह राय है।

यतः,—

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाऽप्रिये।
अप्रियाण्याह तथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य धर्मको आगे रख कर स्वामीके प्रिय और अप्रियको छोड़ कर अप्रिय भी सत्य कहता है उससे राजाको सहारा होता है, अर्थात् कटु भले हो, सच्चा और योग्य सलाह देने वालाही मंत्री राजाका सचमुच सहायकर्ता होता है ॥ १७ ॥

अन्यच्च,—

सुहृद्बलं तथा राज्यमात्मानं कीर्तिमेव च।
युधि संदेहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः? ॥ १८ ॥

दूसरे—और कौनसा बुद्धिमान् मित्रकी सेनाको, राज्यको, अपनेको, और कीर्तिको संग्रामके संदेहरूपी हिंडोलेमें झुलावेगा अर्थात् संकटमें गिरा देगा ॥१८॥

अपरं च,—

संधिमिच्छेत् समेनापि संदिग्धो विजयो युधि।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम्?' ॥ १९ ॥

और समानके साथ भी मेल करनेकी इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि युद्धमें विजयका संदेह है। जैसे समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द आपसमें क्या नष्ट नहीं हो गये?' ॥ १९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसी है?' मंत्री कहने लगा।—

कथा ९

[सुन्द उपसुन्द नामक दो दैत्योंकी कहानी ९]

'पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्लेशेन त्रैलोक्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ। ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः 'वरं वरयतम्' इत्युवाच। अनन्तरं तयोः समधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ। यद्यावयोर्भगवान् परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु। अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां पापतिमिराभ्यां ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित् पृच्छ्यतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः। अनन्तरम् 'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति?' इति ब्राह्मणमपृच्छताम्।

'पहले बड़े उदार सुन्द और उपसुन्द नाम दो दैत्योंने बड़े क्लेशसे तीनों लोककी इच्छासे बहुत काल तक महादेवजीकी आराधना की। फिर उन दोनों पर भगवान्ने प्रसन्न हो कर यह कहा कि "वर माँगो"। फिर हृदयमें स्थित सरस्वतीकी प्रेरणासे वे दोनों, कहना तो कुछही चाहते थे और कुछका कुछ कह दिया कि जो हम दोनों पर भगवान् प्रसन्न हैं तो परमेश्वर अपनी प्रिया पार्वति-

जीको दें। पीछे भगवान्ने क्रोधसे वरदान देने की आवश्यकतासे उन विचारहीन मूर्खोंको पार्वतीजी दे दी। तब उनके रूप और सुन्दरतासे लुभाये संसारके नाश करने वाले, मनमें उत्कंठित, कामसे अंधे तथा 'यह मेरी है मेरी है' ऐसा आपसमें झगड़ा करने वाले इन दोनोंकी "किसी निर्णय करने वाले पुरुषसे पूछना चाहिये" ऐसी बुद्धि करने पर स्वयं ईश्वर बूढ़े ब्राह्मणके वेषसे आ कर वहाँ उपस्थित हुए। पीछे, 'हम दोनोंने अपने बलसे इनको पाया है; हम दोनोंमेंसे यह किसकी है?'—ऐसा ब्राह्मणसे पूछा।

ब्राह्मणो ब्रूते,—

'वर्णश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि।
धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया॥ २०॥

ब्राह्मण बोला—'वर्णोंमें श्रेष्ठ होनेसे ब्राह्मण, बली होनेसे क्षत्रिय, अधिक धनधान्यवान् होनेसे वैश्य और इन तीनों वर्णोंकी सेवासे शूद्र पूज्य होता है॥२०॥

तद्युवां क्षत्रधर्मानुगौ, युद्ध एव युवयोर्नियमः।' इत्यभिहिते सति 'साधूक्तमनेन' इति कृत्वाऽन्योन्यतुल्यवीर्यौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ। अतोऽहं ब्रवीमि—"संधिमिच्छेत् समेनापि" इत्यादि॥' राजाह—'प्रागेव किं नोक्तं भवद्भिः?'। मन्त्री ब्रूते—'मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः? तदापि मम संमत्या नायं विग्रहारम्भः। साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः।

गिद्ध बोला—'इसलिये तुम दोनों क्षत्रिधर्म पर चलने वाले होनेसे तुम दोनोंका युद्ध ही नियम है। ऐसा कहते ही "यह इसने अच्छा कहा" यह कह कर समान बल वाले वे दोनों एक ही समय आपसमें लड़ कर मर गये। इसलिये मैं कहता हूँ–"समान बल वाले के साथ भी संधि करनी चाहिये" इत्यादि।' राजा बोला–'तुमने पहलेही क्यों नहीं कहा?' मंत्रीने कहा–क्या मेरी बात आपने अंत तक सुनी थी? तोभी मेरी संमतिसे यह युद्ध आरंभ नहीं हुआ है। सुन्दर गुणोंसे युक्त यह हिरण्यगर्भ विरोध करनेके योग्य नहीं है।

तथा चोक्तम्,—

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान् बली।
अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सप्त कीर्तिताः॥ २१॥

जैसा कहा है—सत्य बोलने वाला, सज्जन, धर्मशील, दुर्जन, अधिक भाई-बंधु वाला, शूरवीर और अनेक संग्रामोंमें जय पाने वाला ये सात मनुष्य सन्धि करनेके योग्य कहे गये हैं ॥ २१ ॥

सत्योऽनुपालयेत् सत्यं संधितो नैति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥ २२ ॥

सत्यभाषी सत्यके अनुसार संधि करके विश्वासघात नहीं करता है, और सज्जन प्राण जाने पर भी प्रत्यक्षमें नीचता नहीं करता है ॥ २२ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २३ ॥

शत्रुओंसे घिरे हुए धार्मिकके सभी अनुकूल होते हैं इसलिये धर्मसे तथा प्रजाके अनुरागसे धार्मिक राजा दुःखसे जीतनेके योग्य होता है ॥ २३ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याश्रयेणार्यो न कुर्यात् कालयापनम् ॥ २४ ॥

विनाश उपस्थित होने पर दुष्टके साथ भी मेल कर लेना चाहिये और उसके आश्रयके विना सज्जनको कालयापन(समय काटना) नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निविडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ २५ ॥

और जैसे बहुतसे काँटोसे लदा हुआ बाँस आपसमें मिले रहनेसे नहीं कट सकता है वैसे ही भाई-बन्धुओंसे मिला हुआ पुरुष भी नष्ट नहीं हो सकता है २५

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २६ ॥

बली शत्रुके साथ युद्ध करना चाहिये ऐसा उदाहरण नहीं है, क्योंकि बादल पवनके प्रतिकूल कभी नहीं चलता है, अर्थात् जिधरको पवन जाती है उधरको ही चलता है ॥ २६ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ २७ ॥

और जमदग्निके पुत्र अर्थात् परशुरामके समान अनेक युद्धोंमें जीतने वाले राजाके प्रतापसे बहुतसे संग्रामोंमें सब मनुष्य सब स्थानमें सब कालमें पराये राजाको अधिकारमें कर लेते हैं ॥ २७ ॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ २८ ॥

अनेक संग्रामोंमें जीतने वाला मनुष्य जिस राजासे मेल कर लेता है तो उसके प्रतापसे (जिसके साथ संधि की है) उसके शत्रु शीघ्र वशमें हो जाते हैं ॥२८॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संधेयोऽयं राजा।' चक्रवाकोऽवदत्—'प्रणिधे! सर्वत्रावव्रज। सर्वमवगतम्। गत्वा पुनरागमिष्यसि।' राजा चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन्! असंधेयाः कति तान्श्रोतुमिच्छामि।'

इसलिये अनेक गुणोंसे युक्त यह राजा मेल करनेके योग्य है।' चकवा कहने लगा–'हे दूत! सब स्थानोंमें जा, तुमने सब समझ लिया है, और जा कर फिर लौट आना।' राजाने चकवेसे पूछा–'हे मंत्री! कितने मनुष्य संधि करनेके योग्य नहीं हैं, उन्हें सुनना चाहता हूँ।'

मन्त्री ब्रूते—'देव! कथयामि। शृणु,—

मंत्री बोला–महाराज! कहता हूँ सुनिये—

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ २९ ॥

बालक, बूढ़ा, बहुत दिनोंका रोगी और जाति बाहर किया हुआ, डरपोक, भय उत्पन्न करने वाला, लोभी और जिसका लोभी मंत्री हो ॥ २९ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ३० ॥

और रूठी हुई प्रजा वाला, विषयभोगादिमें आसक्त, अनेकोंके चित्तमें जिसका मंत्र रहे अर्थात् जिसका मंत्र गुप्त न हो, और देवता-ब्राह्मणोंकी निन्दा करने वाला हो ॥ ३० ॥

दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः ॥ ३१ ॥

भाग्यहीन, प्रारब्धकी चिन्ता करने वाला, अकालके दुःखसे दुःखी और सेनाकी पीडासे व्याकुल हो ॥ ३१ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३२ ॥

दूसरेके राज्यमें रहने वाला, बहुतसे शत्रुओंसे युक्त, बे अवसर लड़ाई ठानने वाला, और सत्य धर्मसे रहित, ये बीस पुरुष हैं ॥ ३२ ॥

एतैः संधिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ ३३ ॥

इनके साथ सन्धि न करे, केवल ही संग्राम करे, क्योंकि ये लड़ कर अवश्य शीघ्र ही शत्रुके वशमें आ जाते हैं ॥ ३३ ॥

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः ॥ ३४ ॥

बालकके थोड़े प्रताप होनेसे पुरुष युद्ध (विरोध)करनेकी इच्छा नहीं करता है, क्योंकि बालक लड़ने और नहीं लड़नेका फल (भला या बुरा) नहीं जान सकता है ॥ ३४ ॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ ३५ ॥

और वृद्ध तथा बहुत कालका रोगी ये दोनों, उत्साह और शक्तिसे हीन होनेके कारण अवश्य आप ही पराजय पाते हैं ॥ ३५ ॥

सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः ॥ ३६ ॥

सब जातिसे बाहर निकाला गया शत्रु सहजही मारा जा सकता है, क्योंकि उसी जातिके ही मनुष्य इसके धनादिको अपने वशमें करके इसको मार डालते हैं ॥ ३६ ॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ३७ ॥

और डरपोक मनुष्य युद्धमें पीठ दे कर भाग जानेसे अपने आप ही नष्ट हो जाता है, और उस डरपोकको संग्राममें उसके साथी भी छोड़ देते हैं ॥ ३७ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुयायिनः ।
लुब्धानुजीविकैरेष दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ३८ ॥

और यथा योग्य भाग नहीं देनेसे लोभीकी सेनाके लोग नहीं लड़ते हैं और पारितोषिक नहीं पाने वाले लोभी सेवकोंसे वह मार डाला जाता है—अर्थात विपत्ति आने पर वे उसे छोड़ कर चले जाते हैं ॥ ३८ ॥

संत्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ॥ ३९ ॥

बिगड़ी हुई प्रजा वाला (राजा) युद्धमें प्रजासे छोड़ दिया जाता है, और जो विषयोंमें अधिक आसक्त होकर रहता है वह सहजहीमें हराया जा सकता है ॥ ३९ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु भेद्यो भवति मन्त्रिणा ।
अनवस्थितचित्तत्वात् कार्यतः स उपेक्ष्यते ॥ ४० ॥

अनेक मनुष्योंसे गुप्त परामर्शको प्रकट करने वालेकी मंत्रीके साथ फूट हो जाती है, और अनवस्थित(डामाडोल) चित्तके कारण कार्यमें मंत्री उसे छोड़ देता है ॥

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकः ।
विशीर्यते स्वयं ह्येव दैवोपहतकस्तथा ॥ ४१ ॥

धर्मके कारण बलवान् होनेसे भी, देवता और ब्राह्मणोंकी निंदा अथवा अवज्ञा करने वाला और प्रारब्धहीन निस्सन्देह अपने आपही नाश हो जाता है ॥४१॥

संपत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो ध्यायन् नात्मानमपि चेष्टते ॥ ४२ ॥

संपत्ति और विपत्तिका प्रारब्ध ही कारण है ऐसा सोच कर केवल प्रारब्धको (ही प्रधान) मानने वाला अपने आपको काममें नहीं लगाता है ॥ ४२ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति ।
बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ ४३ ॥

दुर्भिक्षकी पीड़ासे दुखी प्रजा वाला राजा आप ही दुर्बल होता है और पीड़ित सेना वालेको लड़नेकी शक्ति नहीं होती है, अर्थात् नष्ट हो जाती है ॥ ४३ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥ ४४ ॥

पराये राज्यमें रहने वाला राजा थोड़े शत्रुओंसे भी मारा जाता है, क्योंकि जलमें छोटेसे छोटाभी मकर बड़े हाथीको खींच लेता है ॥ ४४ ॥

बहुशत्रुस्तु संत्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ४५ ॥

बहुतसे शत्रु वाला, डरा हुआ मनुष्य, बाज पक्षियोंके मध्यमें कबूतरके समान जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गसे दुखी होता है ॥ ४५ ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ४६ ॥

युद्धके अनुचित समयमें सेनासे युक्त भी मनुष्य उचित समय पर लड़ने वालेसे आधी रातमें नहीं दीखनेके कारण उल्लूसे मारे हुए कागके समान मारा जाता है ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन संदध्यान्न कदाचन ।
स संधितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ ४७ ॥

सत्य तथा धर्मरहितके साथ कभी मेल न करना चाहिये, क्योंकि वह संधिके हो जाने पर भी असज्जनताके कारण तुरन्त पलट जाता है ॥ ४७ ॥

अपरमपि कथयामि । संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्च पञ्चाङ्गो मन्त्रः । सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिर्मन्त्रशक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः ।

और भी कहता हूँ—संधि (मैत्रीभाव), विग्रह (युद्ध), यान (यात्रा), आसन (समय देखना), संश्रय (आश्रय लेना), द्वैधीभाव (छल), ये छः गुण हैं और कर्मोंके आरंभका यत्न, पुरुष और द्रव्यका संग्रह, देशकालका विभाग और विनिपातप्रतीकार (आपत्तिका दूर करना), कार्यसिद्धि ये पाँच विचारके अंग हैं । साम, दान, भेद, दंड ये चार उपाय हैं और उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीन शक्तियाँ हैं । इन सबको विचार कर बड़े पुरुष जीतनेकी इच्छा करने वाले होते हैं ॥

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलापि प्रधावति ॥ ४८ ॥

जो लक्ष्मी प्राणत्यागरूपी मोलसे भी नहीं मिलती है वह लक्ष्मी चंचला होनेसे भी नीति जानने वालोंके घर दौड़ती है, अर्थात् उनके वहाँ निवास करती है ॥ ४८ ॥

तथा चोक्तम्,—

जैसा कहा है,—

वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ४९ ॥

जिसका धन बराबर बाँट दिया गया है, तथा दूत गुप्त है, और मंत्र प्रकाशित नहीं है, और जो प्राणियोंसे अप्रिय (कटु) वचन नहीं बोलता है वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य करता है अर्थात् चक्रवर्ती राजा हो जाता है ॥४९॥

किंतु यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण संधानमुपन्यस्तं तथापि तेन राज्ञा संप्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । देव ! तदेवं क्रियताम् । सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजाऽस्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु ।

परन्तु यद्यपि महामंत्री गिद्धने संधि करनेका आरंभ किया है तोभी वह राजा विजय होनेके घमंडसे अब नहीं मानता है, इसलिये महाराज ! ऐसा कीजिये कि सिंहलद्वीपका राजा महाबल नाम सारस हमारा मित्र जम्बूद्वीप पर कोप करे ।

यतः,—

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
संतापयेयेन समं सुतप्त-
स्तप्तेन संधानमुपैति तप्तः ॥ ५० ॥

क्योंकि— वीर, बड़े गुप्त प्रकारसे अनुरक्त सेनाके द्वारा शत्रुको घेर कर पीड़ा दे कि जिस पीड़ासे वह समान तत्ता अर्थात् उग्र हो जाय, क्योंकि तत्ता तत्तेके साथ मिल जाता है, अर्थात् तुल्य पराक्रम वाला सहजमें मिला लिया जाता है ॥ ५० ॥

राज्ञा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः ।

राजाने 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर विचित्र नाम बगुलेको गुप्त चिट्ठी दे कर सिंहलद्वीपको भेज दिया ।

अथ प्रणिधिरागत्योवाच—'देव ! श्रूयतां तत्रत्यप्रस्तावः। एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्—'देव ! यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं संधेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा ?' इति। ततोऽसौ राज्ञा समाहूय पृष्टः—'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः ? चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः ?' वायस उवाच—'देव ! हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः; चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते।' राजाह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ?'।

फिर दूतने आ कर कहा—'महाराज ! वहाँका समाचार सुनिये। वहाँ गिद्धने यों कहा है कि हे महाराज ! मेघवर्ण काक जो वहाँ बहुत दिनों तक रहा था वह जानता है कि हिरण्यगर्भ मिलापके योग्य गुणोंसे युक्त है या नहीं।' फिर राजाने उसे बुला कर पूछा—'हे कौए ! वह हिरण्यगर्भ कैसा है ?' और चकवा मंत्री कैसा है ?' कौएने उत्तर दिया—'महाराज ! राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिरके समान सज्जन है; चकवेके समान मंत्री कहीं भी नहीं दीखा है।' राजा बोला—'जो ऐसाही है तो तूने उसे कैसे ठग लिया ?'

विहस्य मेघवर्णः प्राह—'देव !

मेघवर्णने हँस कर कहा—'महाराज !

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ? ॥ ५१ ॥

विश्वास करने वाले मनुष्योंको ठगनेमें क्या चतुराई है ? जैसे गोदमें लेट कर सोए हुएको मार देनेमें कौनसा पुरुषार्थ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ ५१ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शन एव ज्ञातः। किंतु महाशयोऽसौ राजा। तेन मया विप्रलब्धः।

सुनिये महाराज ! उस मंत्रीने पहले देखते ही मुझे जान लिया था, परन्तु वह राजा बड़ा सज्जन है इसलिये मेरी ठगाईमें आ गया;

तथा चोक्तम्,—

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम्।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५२ ॥

जैसा कहा है—जो मनुष्य अपने समान दुर्जनको सत्य बोलने वाला समझता है वह मनुष्य वैसाही ठगा जाता है, जैसा बकरेके कारण धूर्तोंने ब्राह्मणको ठगा लिया' ॥ ५२ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?'। मेघवर्णः कथयति—

राजा बोला—'यह कथा कैसी है ? मेघवर्ण कहने लगा।—

कथा १०

[एक ब्राह्मण, बकरा और तीन ठगोंकी कहानी १०]

'अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद्ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय स्कन्धे कृत्वा गच्छन् धूर्तत्रयेणावलोकितः। ततस्ते धूर्ता 'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते तदा मतिप्रकर्षो भवति' इति समालोच्य वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः। तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण ! किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते ?'। विप्रेणोक्तम्—'नायं श्वा; किंतु यज्ञच्छागः।' अथानन्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः।

'गौतमके वनमें किसी ब्राह्मणने यज्ञ करना आरंभ किया था। और उसको यज्ञके लिये दूसरे गाँवसे बकरा मोल ले कर कंधे पर रख कर ले जाते हुए तीन ठगोंने देखा। फिर उन ठगोंने "यह बकरा किसी उपायसे मिल जाय तो बुद्धिकी चालाकी बढ़ जाय" यह विचार कर तीनों तीन वृक्षोंके नीचे, एक एक कोसके अन्तरसे, उस ब्राह्मणके आनेकी बाट देख कर मार्गमें बैठ गये। वहाँ एक धूर्तने जा कर उस ब्राह्मणसे कहा—'हे ब्राह्मण ! यह क्या बात है कि कुत्ता कंधे पर लिये जाते हो ?' ब्राह्मणने कहा,-'यह कुत्ता नहीं है, यज्ञका बकरा है।' फिर इससे आगे बैठे हुए दूसरे धूर्तने वैसे ही कहा। यह सुन कर ब्राह्मण बकरेको धरती पर रख कर बार बार देख फिर कंधे पर रख कर चलायमान चित्त-सा हो कर चलने लगा।

यतः,—

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५३ ॥

क्योंकि—सज्जनोंकी भी बुद्धि दुष्टोंके वचनोंसे सचमुच चलायमान हो जाती है–जैसे दुष्टोंकी बातोंसे विश्वासमें आ कर यह ब्राह्मण चित्रकर्णनामक ऊँटके समान मरता है' ॥ ५३ ॥

राजाह—'कथमेतत् ?'। स कथयति—

राजा बोला–'यह कथा कैसी है ?' वह कहने लगा।—

कथा ११

[मदोत्कट नामक सिंह और सेवकोंकी कहानी ११]

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च—'कुतो भवानागतः सार्थाद्भ्रष्टः ?'। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः। तेनाभयवाचं दत्त्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः। अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्—'चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा ?' व्याघ्र उवाच–'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति ?'। काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति।

'किसी वनमें मदोत्कट नाम सिंह रहता था। उसके काग, बाघ और सियार तीन सेवक थे। पीछे उन्होंने घूमते घूमते किसी ऊँटको देखा और पूछा–'तुम साथियोंसे बिछड कर कहाँसे आये हो ?' फिर उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। तब उन्होंने उसे ले जा कर सिंहको सौंप दिया। उसने अभय-वचन दे कर उसका चित्रवर्ण नाम रख कर रख लिया। बाद एक दिन वे सिंहके शरीरमें खेद तथा वर्षाके कारण भोजनको न पा कर दुखी होने लगे। फिर उन्होंने विचारा जिसमें चित्रकर्णको ही स्वामी मारे सो उपाय करो। इस काँटे चरने वालेसे क्या है ?' बाघ बोला–'स्वामीने उसे अभय-वचन दे कर रक्खा है इसलिये ऐसा कैसे हो सकता है ?' काग बोला–'इस समय भूखसे घबराया हुआ स्वामी (सिंह) पाप भी करेगा।

यतः,—

त्यजेत् क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत् क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं?
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥ ५४ ॥

क्योंकि—भूखी स्त्री अपने पुत्रको छोड़ देती है, भूखी नागन अपने अंडेको खा लेती है, और भूखा क्या क्या पाप नहीं करता है? क्योंकि क्षीण मनुष्य करुणाहीन होते हैं, अर्थात् भूख और बुढ़ापेसे क्षीण यह सिंह दयारहित बन जायगा ॥ ५४ ॥

अन्यच्च,—

मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ॥ ५५ ॥

और दूसरे—मतवाला, असमर्थ, उन्मत्त, थका हुआ, क्रोधित, भूखा, लोभी, डरपोक, विना विचारे करने वाला, और कामी ये धर्मके जानने वाले नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्—'आहारार्थं किंचित्प्राप्तम् ?'। तैरुक्तम्—'यत्नादपि न प्राप्तं किंचित् ।' सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः ?'। काको वदति—'देव ! स्वाधीनाहारपरित्यागात् सर्वनाशोऽयमुपस्थितः ।' सिंहेनोक्तम्—'अत्राहारः कः स्वाधीनः ?'। काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्णः' इति । सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति । अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः । तत्कथमेवं संभवति ?

यह विचार कर सब सिंहके पास गये । सिंहने कहा—'आहारके लिये कुछ मिला?' उन्होंने कहा—'यत्न करनेसे भी कुछ नहीं मिला ।' सिंहने कहा—'अब जीनेका क्या उपाय है? कागने कहा—महाराज! आपने आधीन आहारको त्यागनेसे यह सब नाश आ पहुँचा है'। सिंहने कहा—'यहाँ पर कौनसा आहार अपने आधीन है?' कागने कानमें कहा—'चित्रकर्ण ।' सिंहने भूमिको छू कर कान छुए। अभय वाचा दे कर इसको हमने रक्खा है, इसलिये ये कैसे हो सकता है?'

तथा च,—

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ ५६ ॥

जैसा कहा है–इस संसारमें जैसा सब दानोंमें श्रेष्ठ दान अभयदान कहा है, वैसा न तो भूमिदान, न सुवर्णदान, न गोदान और न अन्नदान कहा है ॥५६॥

अन्यच्च,—

सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सम्यग्रक्षिते शरणागते' ॥ ५७ ॥

और दूसरे सब–मनोरथोंको देने वाले अश्वमेध यज्ञका जो फल है वही फल शरणागतकी अच्छी तरह रक्षा करनेसे मिलता है' ॥ ५७ ॥

काको ब्रूते—'नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः। किंत्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथाऽसौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति ।' सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः । अथ काकेनोक्तम्—'देव ! यत्नादप्याहारो न प्राप्तः । अनेकोपवासखिन्नः स्वामी । तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम् ।

काग बोला–'स्वामीको इसे नहीं मारना चाहिये, परन्तु हमही ऐसा करेंगे कि जिसमें वह अपनी देहका दान देना अंगीकार कर लें । यह सुन कर सिंह चुप हो गया । फिर यह मौका पा कर छल करके सबको साथ ले सिंहके पास गया; फिर कागने कहा–'महाराज ! बड़े यत्नसे भी भोजन नहीं मिला, कई दिनोंसे नहीं खानेके कारण स्वामी दुखी हो रहे हैं, इससे अब मेरे मांसको भोजन करें,

यतः,—

स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्' ॥ ५८ ॥

क्योंकि—स्वामी ही सब प्रजाका सचमुच मूल कारण है, और मनुष्योंका मूल अर्थात् जड़युक्त वृक्षोंके होनेसे उपाय सफल होता है अर्थात् फल मिलता है; अर्थात् जीवें तो ही हमारा जीवन सफल है' ॥ ५८ ॥

सिंहेनोक्तम्–'वरं प्राणपरित्यागः । न पुनरीदृशि कर्मणि प्रवृत्तिः।' जम्बुकेनापि तथोक्तम् । ततः सिंहेनोक्तम्—'सैवम् ।' अथ व्याघ्रेणोक्तम्—'मद्देहेन जीवतु स्वामी'। सिंहेनोक्तम्—'न कदाचिदेवमुचितम् ।' अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवात्मदानमाह । ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य व्यापादितः सर्वैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि–"मतिर्दोलायते सत्यम्" इत्यादि । ततस्तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ। स छागस्तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"आत्मौपम्येन यो वेत्ति" इत्यादि ॥' राजाह–'मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुषितम्? कथं वा तेषामनुनयः कृतः?' मेघवर्ण उवाच—'देव! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशाद्वा किं न क्रियते? ।

सिंहने कहा–'मरना अच्छा है, पर ऐसे काममें मन चलाना अच्छा नहीं ।' सियारने भी यही कहा । फिर सिंहने कहा–'ऐसा कभी नहीं ।' फिर बाघने कहा–'मेरे शरीरसे स्वामी प्राण-रक्षण करें ।' सिंहने कहा कि—'यह भी कभी उचित नहीं है ।' पीछे चित्रकर्णने भी विश्वासके मारे वैसे ही अपनेको दान देनेके लिये कहा । फिर उसके कहने पर उस बाघने कोखको फाड़कर उसे मार डाला और सबने खा लिया । इसलिये मैं कहता हूँ कि "बुद्धि सचमुच चलायमान हो जाती है" इत्यादि । फिर तीसरे धूर्तकी बात सुन कर अपनी बुद्धिकाही भ्रम समझ कर बकरेको छोड़ कर ब्राह्मण नहा कर घर चला गया । उन धूर्तोंने उस बकरेको ले जा कर खा लिया । इसलिये मैं कहता हूं–"जो अपने समान (दूसरोंको) जानता है" इत्यादि ।' राजा बोला–'हे मेघवर्ण! शत्रुओंके बीचमें इतने दिन तक तू कैसे रहा? अथवा कैसे उन्होंकी विनती की?' मेघवर्णने कहा–'महाराज! स्वामीके काम चाहने वालेको, अथवा अपने प्रयोजनके लिये क्या नहीं करना पड़ता है?

पश्य,—

> लोको वहति किं राजन्! न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्? ।
> क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेगो निकृन्तति ॥ ५९ ॥

देखो—मनुष्य, जलानेके लिये ईंधनको क्या सिर पर नहीं उठाते हैं? और नदीका वेग वृक्षके चरण अर्थात् जड़को धोता हुआ भी उखाड़ देता है ॥५९॥

तथा चोक्तम्,—

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान्।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६० ॥

वैसा कहा भी है-चतुर मनुष्यको अपना काम निकालनेके लिये शत्रुओंको कंधे पर बैठा लेना चाहिये। जैसे वृद्ध सर्पने मेंडकोंको मार डाला' ॥ ६० ॥

राजाह—'कथमेतत् ?'। मेघवर्णः कथयति—

राजा बोला-'यह कथा कैसी है ?' मेघवर्ण कहने लगा।—

कथा १२

[भूखा साँप और मेंड़कों की कहानी १२]

'अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः। सोऽतिजीर्णतयाऽऽहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः। ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति त्वमाहारं नान्विष्यसि ?'। सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र ! मम मन्दभाग्यस्य प्रश्नेन किम् ?'। ततः संजातकौतुकः स च भेकः सर्वथा कथ्यताम्' इत्याह। सर्पोऽप्याह—'भद्र ! ब्रह्मपुरवासिनः श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशतिवर्षीयः सर्वगुणसंपन्नो दुर्दैवान्मम नृशंसस्वभावाद्दष्टः। तं पुत्रं सुशीलनामानं मृतमालोक्य मूर्च्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्यां लुलोठ। अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्योपविष्टाः।

एक पुराने उपवनमें मंदविष नाम सर्प रहता था। वह अधिक बूढ़ा होनेसे आहार भी ढूँढ़नेके लिये असमर्थ हुआ सरोवरके किनारे पर लटक कर बैठा था। फिर दूसरे किसी मेंढकने देखा, और पूछा-'क्या बात है जो तुम भोजनको नहीं ढूँढ़ते हो ?' सर्पने कहा-'मित्र ! जाओ, मुझ भाग्यहीनका क्या पूछना है ?' फिर आश्चर्ययुक्त हो कर उस मेंढकने यह कहा कि 'अवश्य ही कहो।' सर्पने कहा—'मित्र ! ब्रह्मपुरके निवासी कौंडिन्य नामक वेदपाठीके सब गुणोंसे युक्त बीस बरसके पुत्रको दुर्भाग्य और दुष्ट स्वभावसे मैंने डस लिया। तब उस सुशील नाम पुत्रको मरा हुआ देख कर कौंडिन्य पछाड़ खा कर धरतीपर गिर पड़ा ! पीछे सब ब्रह्मपुरवासी बान्धव वहाँ आ कर बैठे।

तथा चोक्तम्,—

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ६१ ॥

जैसा कहा है—विवाह आदि उत्सवमें, दुःखमें, संग्राममें, अकालमें, राज्यके पालटेमें, राजद्वारमें और श्मशानमें जो साथ रहता है वह सच्चा बान्धव है' ॥

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि, तेनैव विलपसि ।

वहाँ एक कपिल नाम भिक्षुने कहा–'अरे कौंडिन्य ! तुम मूर्ख हो, इसीसे विलाप करते हो ।

शृणु,—

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ६२ ॥

सुनो—जैसे पहले प्राणीके उत्पन्न होते ही, अनित्यता (नश्वरता) ग्रहण करती है, वैसे ही पीछे धायके समान माता गोदमें खिलाती है, इसलिये इसमें शोककी कौनसी बात है ? ॥ ६२ ॥

क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ? ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६३ ॥

सेनाके चतुरंग बल तथा हाथी, घोड़े इत्यादिसे युक्त राजा कहाँ गये ? जिन्होंके वियोगकी साक्षी देने वाली पृथ्वी आज तक वर्तमान है ॥ ६३ ॥

अपरं च,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ ६४ ॥

और दूसरे-शरीरके संग नाश है, संपत्तियाँ विपत्तियोंका स्थान हैं, समागमके साथ वियोग है, और सब उत्पन्न होने वाली वस्तु नाश होने वाली हैं ॥ ६४ ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन् विभाव्यते ॥ ६५ ॥

यह शरीर क्षणक्षणमें घटता हुआ भी नहीं दीखता है, जैसा जलके भीतर धरा हुआ कच्चा घड़ा जलसे खाली हो जाता है तब जाना जाता है ॥ ६५ ॥

आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने दिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे पदे ॥ ६६ ॥

मारनेके लिये वधस्थानमें ले गये हुए वध्य पुरुषके समान मृत्यु प्राणियोंके दिन पर दिन पास चली जाती है ॥ ६६ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ६७ ॥

यौवन, रूप, जीवन, द्रव्यका संचय, ऐश्वर्य तथा स्त्रीपुत्रादि प्यारोंसे बोल-चाल, रहना सहना, ये सब अनित्य हैं; इस लिए बुद्धिमानको चाहिये कि वह इनसे मोह न करें ॥ ६७ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ६८ ॥

जैसे समुद्रमें दो काष्ठके लट्ठे अपने आप बहते हुए चले जाते हैं और मिल कर फिर अलग हो जाते हैं इसी तरह (संसारमें) प्राणियोंका स्त्री, पुत्र, मित्रादि परिवारके साथ मिलना या जुदा होना होता है ॥ ६८ ॥

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः ॥ ६९ ॥

जैसे कोई मुसाफिर मार्गमें छायाका आसरा ले कर बैठ जाता है और आराम ले कर फिर चला जाता है वैसा ही (इस दुनियामें स्त्री, पुत्र और मित्र वगैरह) प्राणियोंका समागम है ॥ ६९ ॥

अन्यच्च,—

पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ? ॥ ७० ॥

और दूसरे-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन पाँच तत्त्वोंसे देह बनी है, फिर अपनी अपनी योनिमें अर्थात् पाँच तत्त्व पाँच तत्त्वोंमें मिल जाने पर उसमें क्या पछतावा है ? ॥ ७० ॥

यावन्तः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽपि निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ ७१ ॥

प्राणी जितना मनको अच्छे लगने वाले संबन्धोंको अर्थात् स्नेहकी गाँठोंको मजबूत करता है, उतनी ही हृदयमें शोककी कुठारें लगती हैं ॥ ७१ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ७२ ॥

किसी प्राणिको अपने शरीरका भी ऐसा बहुत काल तक साथ नहीं मिलता है, फिर दूसरों (पुत्रादिकों) से क्या आशा है? ॥ ७२ ॥

अपि च,—

संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति संभवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्ममृत्योरिवागमम् ॥ ७३ ॥

और भी–जैसे जन्म अवश्य होने वाली मृत्युके आगमनको सूचना करता है वैसे ही संयोग अवश्य होने वाले वियोगको सूचना करता है ॥ ७३ ॥

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ ७४ ॥

और अपथ्य अर्थात् हित नहीं करने वाली भक्ष्य वस्तुओंके समान क्षण-भर सुन्दर लगने वाले स्त्री-पुत्रादि प्रिय-जनोंके साथ मिलनेका अन्त बड़ा कष्टदायक होता है ॥ ७४ ॥

अपरं च,—

व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा ॥ ७५ ॥

और भी, जैसे नदीके जलप्रवाह जाते हैं और फिर नहीं लौटते हैं, वैसे ही रात और दिन प्राणियोंकी आयुको ले कर प्रतिक्षणको चले जाते हैं और लौटते नहीं हैं ॥ ७५ ॥

सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगावसानत्वाद्दुःखानां धुरि युज्यते ॥ ७६ ॥

संसारमें सज्जनोंका संग अत्यन्त सुख देने वाला है, परन्तु उस संयोगके अंतमें वियोग होनेसे वह सुख-दुःखोंके आगे जोड़ा बन जाता है, अर्थात् अन्तमें दुःख देने वाला होता है ॥ ७६ ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥ ७७ ॥

इसीसे विवेकी जन अच्छे लोगोंके समागमको नहीं चाहते हैं कि जिसके वियोगरूपी तलवारसे कटे हुए मनकी औषध नहीं है ॥ ७७ ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।
अथ तान्येव कर्माणि ते चाऽपि प्रलयं गताः ॥ ७८ ॥

सगर आदि राजाओंने अच्छे अच्छे कर्म यज्ञ वगैरह किये, फिर वे कर्म और वे राजा भी नाश हो गये ॥ ७८ ॥

संचिन्त्य संचिन्त्य तमुग्रदण्डं
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति ॥ ७९ ॥

बड़े दंड करने वाली मृत्युको बार बार सोच कर बुद्धिमान् मनुष्यके भी सब उपाय, बरसातमें भीगे हुए चमड़ेकी गाँठोंके समान ढीले पड़ जाते हैं ॥ ७९ ॥

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासी नरवीरलोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८० ॥

वीर पुरुष जिस पहली रातको गर्भमें आता है उसी दिनसे निरंतर गतिसे वह नित्य मृत्युके पास सरकता जाता है ॥ ८० ॥

अतः संसारं विचारय । शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः ।

इसलिये संसारको विचारो । यह शोक अज्ञानका पाखंड है ।

पश्य,—

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्धतामपयाति किम् ? ॥ ८१ ॥

देखो,-जो वियोगही दुःखका कारण होता और अज्ञान कारण नहीं होता, तो प्रतिदिन शोक बढ़ना चाहिये था, फिर भला घटता क्यों जाता है ? इसलिये अज्ञान ही शोकका मूल कारण है ॥ ८१ ॥

'तदत्रात्मानमनुसंधेहि । शोकचर्चां परिहर ।

इसलिये इसमें आत्माको स्थिर करो, शोककी चर्चाको दूर करो;

यतः,—

अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधिः' ॥ ८२ ॥

क्योंकि–कुसमयमें गिरनेसे उत्पन्न हुए, शरीरके मर्मस्थानको विदारण करने वाले कठोर शोकके प्रहारोंकी चिंता नहीं करना ही बड़ी औषधि है ॥८२॥

ततस्तद्वचनं निशम्य प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाब्रवीत्—'तद-लमिदानीं गृहनरकवासेन। वनमेव गच्छामि।'

फिर उसका वचन सुन कर जागे हुएके समान उठके कौंडिन्य बोला–'अब नरकके समान घरका रहना ठीक नहीं है, वनकोही जाता हूँ।

कपिलः पुनराह—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
　गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
　निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ८३ ॥

कपिल फिर बोला–'प्रेमियोंको अर्थात् संसारके झगड़ोंमें फँसे हुओंको वनमें भी दोष अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, और मोहादिक होते हैं; घरमें भी पाँचों इन्द्रियोंका रोकना तपके समान है। और जो अच्छे काममें प्रवृत्त होता है और विषयादि रागोंको छोड़ देता है उसका घर ही तपोवन है ॥ ८३ ॥

यतः,—

दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ८४ ॥

क्योंकि–किसी आश्रममें अनुरक्त हो, दुःखी हो कर भी धर्मका आचरण करे और सब प्राणियोंमें समान स्नेह रक्खे; केवल सिर मुंडा कर गेरुए कपड़े आदि धारण वगैरह चिन्हही धर्मका कारण नहीं है ॥ ८४ ॥

उक्तं च,—

वृत्त्यर्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम्।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८५ ॥

औरभी कहा है–जिन मनुष्योंका केवल आजीविकाके लियेही भोजन है, संतान उत्पन्न करनेके लियेही मैथुन है और सत्य वचन बोलनेके लियेही वाणी है वे कठिन स्थानोंसेभी पार हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

तथा हि,—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ८६ ॥

जैसा कहा है कि-हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंका संयमन (रोकना)ही जिसका पुण्यतीर्थ है, सत्यही जिसका जल है, शील जिसका किनारा है और दयाही जिसमें लहरियोंकी माला है, ऐसी आत्मारूपी नदीमें स्नान कर, क्योंकि केवल पानीसे (स्नान करनेसे) ही अंदरकी आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती है ॥ ८६ ॥

विशेषतश्च,—

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ८७ ॥

और विशेष करके—जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और शोक इनसे भरे हुए अत्यन्त असार इस संसारको छोड़ देने वाले मनुष्यको सुख है ॥ ८७ ॥

यतः,—

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ८८ ॥

क्योंकि-इस संसारमें दुःखही दुःख है सुख नहीं है कि जिस दुःखसे जो कुछ सुखकासी अनुभव होता है, पर दुःखसे पीड़ित मनुष्यके दुःख दूर होने परसे वह दुःखही सुख कहाता है' ॥ ८८ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव ।' ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तः—'यदद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि' इति । कपिलो ब्रूते—'संप्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान् । शोकाविष्टं ते हृदयम् ।

'कांडिन्य बोला कि-'ऐसेही है ॥' तब उस शोकसे व्याकुल ब्राह्मणने मुझे शाप दिया--'आजसे लेकर तू मेंडकोंका वाहन होगा । 'कपिल बोला-'तुम अभी उपदेशको नहीं सुन सकते हो । तुम्हारा चित्त शोकमें डूबा हुआ है ।

तथापि कार्यं शृणु,—

तोभी जो करना चाहिये सो सुनो ॥

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्' ॥ ८९ ॥

संग तो सर्वथा त्यागनाही चाहिये और जो वह नहीं छोड़ा जाय तो सज्जनोंके साथ संग करना चाहिये, क्योंकि साधुओंका संग सचमुचही औषधि है ॥ ८९ ॥

अन्यच्च,—

कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्धातुं न शक्यते ।
स्वभार्यां प्रति कर्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम्' ॥ ९० ॥

और दूसरे-रतिकी इच्छाभी सर्वथा छोड़ देनी चाहिये, और जो वह नहीं छूट सके तो अपनी स्त्रीके साथही करनी चाहिये, क्योंकि वही सचमुच उसकी औषधि है' ॥ ९० ॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः कपिलोपदेशामृतप्रशान्तशोकानलो यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान् । अतो ब्राह्मणशापान्मण्डूकान् वोढुमत्र तिष्ठामि; अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान् । स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रं तरां बभ्राम । परेद्युश्चलितुमसमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्—'किमद्य भवान्मन्दगतिः ?' । सर्पो ब्रूते—'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि ।' मण्डूकनाथोऽवदत्—'अस्मदाज्ञया मण्डूकान् भक्षय ।' ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसादः' इत्युक्त्वा क्रमशो मण्डूकान् खादितवान् । अनो निर्मण्डूकं सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—"स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्" इत्यादि ॥ देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनम् । सर्वथा संधेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा संधीयतामिति मे मतिः ।' राजोवाच—'कोऽयं भवतो विचारः ? यतो जितस्तावदयमस्माभिस्ततो यद्यस्मत्सेवया वसति तदास्ताम्; नो चेद्विगृह्यताम् ।'

यह सुन कर उस कौंडिन्यने कपिलके उपदेशरूपी अमृतसे शोकरूपी अग्निको शांत कर विधिपूर्वक दंड ग्रहण कर लिया । इसलिये ब्राह्मणके शापसे मेंड़कोंको चढ़ा कर ले आनेके लिये यहां बैठा हूं । पीछे उस मेंड़कने जा कर जालपाद नाम मेंड़कोंके राजाके सामने वह वृत्तान्त कहा. फिर वह मेंड़कोंका राजाभी आ कर

उस सांपकी पीठ पर चढ़ लिया । और वह सर्प उसे अपनी पीठ पर बैठा कर विचित्र विचित्र चालोंसे फिरने लगा । दूसरे दिन चलनेके लिये असमर्थ सर्पसे मेंढ़कोंके राजाने कहा–'आज तुम धीरे धीरे क्यों रेंगते हो ? सर्पने कहा–'महाराज ! खानेको नहीं मिलनेसे असमर्थ हूं.' मेंढ़कोंके स्वामीने कहा–'हमारी आज्ञासे मेंढ़कोंको खा लो ।' फिर "यह महाप्रसाद मैंने ग्रहण किया" यह कह कर वह क्रम क्रमसे मेंढ़कोंको खाने लगा । फिर मेंढ़कोंसे खाली सरोवरको देख कर मेंढ़कोंके राजाकोभी खा लिया. इसलिये मैं कहता हूं, "शत्रुओंकोभी कंधे पर चढ़ावे" इत्यादि. हे महाराज ! अब पहले वृत्तान्तके कहनेको रहने दीजिए. सब प्रकारसे यह हिरण्यगर्भ राजा सन्धि करने योग्य है, इसलिए मेरी समझमें तो सन्धि कर लीजिये.' राजाने कहा–'यह तुम्हारा कैसा विचार है ? क्योंकि इसको तो हम जीत चुके हैं, फिर जो वह हमारी सेवाके लिये रहे तो भलेही रहे, नहीं तो युद्ध किया जाय.

अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्—'देव ! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा संप्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते ।' राजा ससंभ्रमं ब्रूते—'किं किम् ?' । शुकः पूर्वोक्तं कथयति । गृध्रः स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् सर्वज्ञ ! साधु ।' राजा सकोपमाह—'आस्तां तावदयम् । गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि ।'

इसी अवसर बीच जम्बूद्वीपसे आ कर तोतेने कहा—'महाराज ! सिंहलद्वीपका सारस राजा अब जम्बूद्वीपको घेरे हुये डटा हुआ है ।' राजा घबरा कर बोला–'क्या क्या ?' तोतेने पहिली बात दुहरा कर कही । गिद्धने अपने मनमें सोचा कि 'धन्य है ! अरे चकवे मंत्री सर्वज्ञ ! तुझे धन्य है, धन्य है !' राजा झुंझला कर बोला–'इसे तो रहने दो । मैं जा कर उसीको जड़से नाश करूंगा.'

दूरदर्शी विहस्याह—

'न शरन्मेघवत् कार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान् ॥ ९२ ॥

दूरदर्शी हँस कर बोला–'शरदृतुके मेघके समान वृथा गंभीर गर्जना नहीं चाहिये, बड़े पुरुष शत्रुके अर्थको अथवा अनर्थको प्रकट नहीं करते हैं ॥ ९१ ॥

अपरं च,—

एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजाभिघातिनः ।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम् ॥ ९२ ॥

और दूसरे–राजा एकही समय पर बहुतसे शत्रुओंसे नहीं लड़े; क्योंकि, अहंकारी सर्पकोभी निश्चय करके बहुतसी (क्षुद्र) चीटियां मार डालती हैं ॥९२॥

देव ! किमिति विना संधानं गमनमस्ति ? यतस्तदास्मत्पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्तव्यः ।

हे महाराज ! विना मेल किये कैसे जाते हो ? क्योंकि फिर हमारे जानेके बाद यह बड़ा कोप करेगा.

अपरं च,—

योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः ।
स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥ ९३ ॥

और दूसरे–जो मूर्ख मनुष्य बातके भेदको न जान कर केवल क्रोधकेही वश हो जाता है वह वैसाही दुःख पाता है जैसा नेवलेसे ब्राह्मण दुःखी हुआ' ॥ ९३ ॥

राजाह—'कथमेतत् ?' । दूरदर्शी कथयति—

राजा बोला–'यह कथा कैसी है ? दूरदर्शी कहने लगा ।—

कथा १३

[माधव ब्राह्मण, उसका बालक, नेवला और साँपकी कहानी १३]

'अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः । तस्य ब्राह्मणी प्रसूतबालापत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य स्नातुं गता । अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम् । तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणः सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्—'यदि सत्वरं न गच्छामि तदाऽन्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति ।

'उज्जयिनी नगरीमें माधव नाम ब्राह्मण रहता था । उसकी ब्राह्मणीके एक बालक हुआ । वह उस बालककी रक्षाके लिये ब्राह्मणको बैठा कर नहानेके लिये

गई । तब ब्राह्मणके लिये राजाका पार्वणश्राद्ध करनेके लिये बुलावा आया. यह सुन कर ब्राह्मणने जन्मके दरिद्री होनेसे सोचा कि 'जो मैं शीघ्र नहीं जाऊं तो दूसरा कोई सुन कर श्राद्धका आमंत्रण ग्रहण कर लेगा.

यतः,—

> आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
> क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ ९४ ॥

क्योंकि—शीघ्र नहीं किये गये—लेने, देने और करनेके—कामका रस समय पी लेता है ॥ ९४ ॥

किंतु बालकस्यात्र रक्षको नास्ति, तत्किं करोमि ? यातु, चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि ।' तथा कृत्वा गतः । ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्ट्वा व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा खादितः । ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य रक्तविलिप्तमुखपादः सत्वरमुपागम्य तच्चरणयोर्लुलोठ । ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा 'बालकोऽनेन खादितः' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान् । अनन्तरं यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति । ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य भावितचेताः स परं विषादमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—"योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय" इत्यादि ॥

परन्तु बालकका यहां रक्षक नहीं है, इसलिये क्या करूं? जो हो, बहुत दिनोंसे पुत्रसेभी अधिक पाले हुये इस नेवलेको पुत्रकी रक्षाके लिये रख कर जाता हूं।' वैसा करके चला गया. फिर वह नेवला बालकके पास आते हुए काले साँपको देख कर, उसे मार कोपसे टुकडे टुकडे करके (मार कर) खा गया। फिर वह नेवला ब्राह्मणको आता देख लोहूसे भरे हुए मुख तथा पैर किये शीघ्र पास आ कर उसके चरणों पर लोट गया. फिर उस ब्राह्मणने उसे वैसा देख कर "इसने बालकको खा लिया है" ऐसा समझ कर नेवलेको मार डाला. पीछे ब्राह्मणने जब बालकके पास आ कर देखा तो बालक आनंदमें है और सर्प मरा हुआ पडा है। फिर उस उपकारी नेवलेको देख कर मनमें घबरा कर बडा दुःखी हुआ; इसलिये मैं कहता हूं, "जो बातके भेदको न जान कर" इत्यादि.

अपरं च,—

कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः' ॥ ९५ ॥

और दूसरे—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, तथा मद इन छः बातोंको छोड़ देना चाहिये, और इनके त्यागनेसे ही राजा सुखी होता है ॥ ९५ ॥

राजाह—'मन्त्रिन्! एष ते निश्चयः?' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव।

राजा बोला-'हे मंत्री! यह तेरा निश्चय है? मंत्रीने कहा-'हां, ऐसाही है।

यतः,—

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ ९६ ॥

क्योंकि-धर्मके तत्त्वोंमें स्मरण, विवेक, बुद्धिकी स्थिरता, दृढ़ता, और मंत्रको गुप्त रखना ये मंत्रीके मुख्य गुण हैं ॥ ९६ ॥

तथा च,—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥ ९७ ॥

औरभी कहा है-एकाएक विना विचारे कोई काम न करना चाहिये, क्योंकि अविवेक याने विवेकका न होना आपत्तियोंका मुख्य स्थान है. और गुणको चाहने वाली संपत्तियां विचार कर करने वाले(सदसद्विवेकी पुरुष)के पास आपसे आप चली आती हैं ॥ ९७ ॥

तद्देव! यदिदानीमस्मद्वचनं क्रियते तदा संधाय गम्यताम्।

इसलिये हे महाराज! जो अब मेरी बात मानों तो मेल करके चलिए।

यतः,—

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने।
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥ ९८ ॥

क्योंकि-यद्यपि मनोरथके सिद्ध करनेमें चार उपाय (साम, दाम, दंड और भेद) कहे हैं तथापि उन उपायोंका फल, केवल गिनतीही है परन्तु कार्यका साधन मेलमें रहता है, अर्थात् मेलसेही कार्य बन जाता है ॥ ९८ ॥

राजाह—'कथमेवं संभवति ?'। मन्त्री ब्रूते—'देव ! सत्वरं भविष्यति।

यह सुन कर राजा बोला–'ऐसा कैसे हो सकता है ?' मंत्रीने कहा–'महाराज ! शीघ्र हो जायगा।

पश्य,—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ ९९ ॥

क्योंकि—मूर्ख सहजमें मिलाने योग्य है, और अधिक बुद्धिमान् औरभी सहजमें प्रसन्न कर लिया जा सकता है परन्तु थोडेही ज्ञानसे अभिमानी मनुष्यको ब्रह्माभी प्रसन्न नहीं कर सकता है ॥ ९९ ॥

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च। ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसंदर्शनाच्च।

और विशेष करके यह राजा धर्मशील और मंत्री सर्वज्ञ है। मैंने यह पहलेही मेघवर्णकी बातसे और उनके किये हुए कार्योंके देखनेसे जान लिया था.

यतः,—

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः।
तस्मात् परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते' ॥ १०० ॥

क्योंकि—सर्वत्र परोक्षमें गुणोंसे युक्त अर्थात् अपने गुणोंको नहीं प्रकट करने वाले पुरुष कर्मसे जाने जाते हैं। इसलिये जिनका आकार और हृदयका भाव छुपा हुआ है ऐसे महान् पुरुषोंको कर्मके बलसे निश्चय करे' ॥ १०० ॥

राजाह—'अलमुत्तरोत्तरेण। यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।' एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री 'तत्र यथार्हं कर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा दुर्गाभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधि बकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्—'देव ! संधिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छत्।' राजहंसो ब्रूते—'मन्त्रिन् ! पुनः संबन्धिना केनचिदत्रागन्तव्यम्।' सर्वज्ञो विहस्याह—'देव ! न शङ्कास्पदमेतत्। यतोऽसौ महाशयो दूरदर्शी। अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्। कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का।

राजा बोला—'इस उत्तर प्रत्युत्तरको रहने दो। जो करना है सो कीजिये.' यह परामर्श करके महामंत्री गिद्ध "इसमें जो उचित होगा, सो किया जायगा" यह कह कर गढ़के अंदर चला गया। फिर दूत बगुलेने आ कर राजा हिरण्यगर्भसे निवेदन किया कि 'महाराज! महामंत्री गिद्ध हमारे पास मेल करनेके लिये आया है.' राजहंसने कहा—'हे मंत्री! फिर किसी न किसी संबन्धसे यहां आया होगा.' सर्वज्ञ हँस कर बोला—'महाराज! यह शंकाका स्थान नहीं है. क्योंकि यह दूरदर्शी बड़ा सज्जन है। अथवा ऐसा मन्दबुद्धियोंका नियम है कि कभी तो शंका नहीं करते हैं, कभी सर्वत्र शंका करते हैं।

तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०१ ॥

कुमुदिनीको ढूंढने वाला चतुर हंस रातको सरोवरमें बहुतसे तारोंकी परछाईसे क्षणभर ठगा हुआ (अर्थात् तारोंकी परछाईको कुमुदिनी जान कर) दिनमेंभी तारोंकी शंकासे फिर श्वेतकमलोंको नहीं लेता है, जैसे छलसे छला गया संसार सत्यमेंभी बुराईकी शंका करता है ॥ १०१ ॥

दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ १०२ ॥

दुष्टोंसे छले हुए चित्त वाले मनुष्यका सज्जनोंमेंभी विश्वास नहीं रहता है जैसे क्षीरसे जला हुआ बालक दहीकोभी सचमुच फूंक देकर कर खाता है ॥ १०२ ॥

तद्देव! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रियताम्।' तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच—'युष्मदायत्तं सर्वम्। स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्।' राजहंसो ब्रूते—'एवमेव।' दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत्। किंत्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्।

इसलिये महाराज! शक्तिके अनुसार उसके सत्कारके लिये रत्नोंकी भेट आदि सामग्री अच्छे प्रकारसे तयार कीजिये। फिर ऐसा करने पर उस गिद्ध मंत्रीको गढ़के द्वारसे चकवेने पास जा कर आदरपूर्वक लिवा ला कर राजाका दर्शन कराया. और वह दिये हुए आसन पर बैठ गया। फिर चकवा बोला–'सब तुम्हारे आधीन है। अपनी इच्छानुसार इस राज्यको भोगिये।' राजहंसने कहा–'हां, ठीक है।' दूरदर्शी बोला–'हां, यह ऐसेही हो। परन्तु अब बहुत प्रपञ्चकी बात वृथा है.

यतः,—

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०३ ॥

क्योंकि–लोभीको धनसे, अभिमानीको हाथ जोड़ कर, मूर्खको उसका मनोरथ पूरा करके और पण्डितको सच सच कह कर वशमें करना चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यच्च,—

सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु बान्धवान्।
स्त्री-भृत्यौ दानमानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् ॥ १०४ ॥

और दूसरे–विनयसे मित्रको, मीठी बातोंसे बांधवोंको, दान तथा मानसे स्त्री और सेवकोंको तथा चतुरतासे अन्य लोगोंको वशमें करना चाहिये ॥१०४॥

तदिदानीं संधाय गम्यताम्। महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा।' चक्रवाको ब्रूते—'यथा संधानं कार्यं तदप्युच्यताम्।' राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः संधीनां संभवन्ति?'

इसलिये अब मेलके लिये चलिये, चित्रवर्ण राजा बड़ा प्रतापी है। चकवा बोला–'जैसे मेल करना चाहिये सोभी तो कहिये।' राजहंस बोला–'संधियां कितने प्रकारकी हैं?'

गृध्रो ब्रूते—'कथयामि, श्रूयताम्,—

गिद्ध बोला–'कहता हूं। सुनिये,—

बलीयसाऽभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः।
आपन्नः संधिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् ॥ १०५ ॥

सबल शत्रुके साथ जिसने युद्ध कर रक्खा है और संधिको छोड़ और कोई जिसका उपाय नहीं, ऐसी आपत्तिमें गिर कर समय व्यतीत करते हुये राजाको संधिकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १०५ ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ १०६ ॥

और कपाल, उपहार, संतान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषांतर, ॥१०६ ॥

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छन्नस्तथा च परभूषणः ॥ १०७ ॥

अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छन्न, और परभूषण, ॥ १०७ ॥

स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १०८ ॥

स्कंधोपनेय, यह सोलह प्रकारकी संधि कही गई है और संधिके जानने वाले इन्हींको सोलह संधि करते हैं ॥ १०८ ॥

कपालसंधिर्विज्ञेयः केवलं समसंधितः ।
संप्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ १०९ ॥

केवल समान वालेके साथ मेल करनेको "कपालसंधि" कहते हैं, और जो धन देनेसे होती है वह "उपहारसंधि" कहलाती है ॥ १०९ ॥

संतानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
सद्भिस्तु संगतः संधिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११० ॥

कन्यादान देनेसे जो हो उसे "सन्तानसंधि" जाननी चाहिये और सज्जनोंके साथ मित्रतापूर्वक मेल करनेको "संगतसंधि" कहते हैं ॥ ११० ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।
संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते ॥ १११ ॥

जितना अवस्थाका प्रमाण है, तब तक समान धनसे युक्त रहे और संपत्ति या विपत्तिमें अनेक कारणोंसेभी नहीं टूटे ॥ १११ ॥

संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात् सुवर्णवत् ।
तथाऽन्यैः संधिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः ॥ ११२ ॥

वह संगतसंधि परमोत्तम होनेसे सुवर्णके समान है और दूसरे संधि जानने वालोंने इसको "कांचनसंधि" कही है, अर्थात् सुवर्णके समान, नम भलेही जाय परन्तु टूटती नहीं है ॥ ११२ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ११३ ॥

अपना काम निकालनेके अभिप्रायसे जो की जाती है, उसे नीति जानने वाले "उपन्याससंधि" कहते हैं ॥ ११३ ॥

मयाऽस्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति ।
इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ ११४ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है, यहभी भविष्यमें मेरे उपर उपकार करेगा; इस हेतुसे जो संधि की जाती है उसे "प्रतीकारसंधि" कहते हैं ॥ ११४ ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति ।
अयं चाऽपि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ ११५ ॥

और मैं इसका उपकार करता हूं यहभी मेरा करेगा यहभी दूसरे प्रकारकी राम-सुग्रीव जैसी "प्रतीकारसंधि" है ॥ ११५ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ ११६ ॥

जहां एकही प्रयोजनके करनेके लिये दृढ प्रमाणोंसे युक्त संधि होती है, उसको "संयोगसंधि" कहते हैं ॥ ११६ ॥

आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषान्तरः ॥ ११७ ॥

हम दोनोंके मुख्य योद्धा लोग हमारा कार्यसाधन करे; ऐसी जिसमें प्रतिज्ञा की जाती है वह "पुरुषांतरसंधि" है ॥ ११७ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात् सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ ११८ ॥

और केवल तुमेही मेरे कामको अच्छी तरह कर देना चाहिये; ऐसी प्रतिज्ञा जिस संधिमें शत्रु करे उसे "अदृष्टपुरुषसंधि" कहते हैं ॥ ११८ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ।
संधीयते संधिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ ११९ ॥

जहाँ राज्यका एक भाग देनेके पणसे बलवान् शत्रुके साथ जो संधि की जाती है, उसको संधि जानने वाले "आदिष्टसंधि" कहते हैं ॥ ११९ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२० ॥

अपनी सेनाके साथ जो संधि करता है वह "आत्मादिष्टसंधि" है और जो अपनी रक्षाके लिये सर्वस्व दे कर की जाती है वह "उपग्रहसंधि" है ॥ १२० ॥

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः ।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२१ ॥

जो कोशसे कुछ भाग, आधे कोशसे या संपूर्ण कोशसे सज्जन मंत्रीकी रक्षाके लिये की जाती है वह "परिक्रयसंधि" कही गई है ॥ १२१ ॥

भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १२२ ॥

सारवती अर्थात अन्नसे पूर्ण भूमिके देनेसे जो हो उसे "उच्छिन्नसंधि" कहते हैं और भूमिमें उपजे हुए संपूर्ण फलके देनेसे जो हो उसे "परभूषणसंधि" कहते हैं ॥ १२२ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १२३ ॥

और जिसमें खेतसे लाया हुआ और स्वच्छ किया हुआ अन्न कंधोंके ऊपर लिये ले जा कर दिया जाता है, संधि जानने वाले उसको "स्कन्धोपनेयसंधि" कहते हैं ॥ १२३ ॥

परस्परोपकारस्तु मैत्री संबन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव संधयः ॥ १२४ ॥

परस्पर आपसमें उपकार, मित्रता, संबन्ध तथा भेट येही चार प्रकारकी संधि जाननी चाहिये ॥ १२४ ॥

एक एवोपहारस्तु संधिरेव मतो मम ।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्र्यविवर्जिताः ॥ १२५ ॥

केवल उपहार अर्थात् भेटही एक उपहार संधि है, यही मुझे संमत है, और उपहारसे भिन्न अन्य सब प्रकारकी संधियां मित्रतासे रहित है ॥ १२५ ॥

अभियोक्ता बलियस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।
उपहारादृते तस्मात् संधिरन्यो न विद्यते' ॥ १२६ ॥

और चढ़ाई करके युद्धके लिये आने वाला शत्रु बलवान् होनेसे थोड़ाभी धन विना लिये नहीं लौटता है इसलिये उपहारको छोड़ दूसरे प्रकारकी संधि नहीं है' ॥ १२६ ॥

राजाह—'भवन्तो महान्तः पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम् ।' मन्त्री ब्रूते—'आः ! किमेवमुच्यते ?।

राजा बोला—'आप लोग तो बड़े पण्डित हैं । इसलिये हमको जो करना चाहिये सो आज्ञा कीजिये ।' मंत्री बोला—'अजी ! आप क्या कहते हैं ?।

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ? ॥ १२७ ॥

मनका संताप, रोग और पुत्रादिक वियोगसे उत्पन्न हुआ क्लेश इनसे आज अथवा कल याने किसीभी क्षणमें विनाश पाने वाले शरीरके लिये कौनसा मनुष्य धर्मरहित आचरण करेगा ? ॥ १२७ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत् कल्याणमाचरेत् ॥१२८॥

देहधारियोंका जीवन निश्चय करके पानीमें दिखनेवाले चन्द्रमाका प्रतिबिंबके समान चंचल है ऐसा इसे जान कर सर्वदा कल्याणका आचरण करना चाहिये ॥ १२८ ॥

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।
सज्जनैः संगतं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च ॥ १२९ ॥

मृगतृष्णाके समान क्षणभंगुर संसारको विचार कर धर्म और सुखके लिये सज्जनोंके संग मेल करना चाहिये ॥ १२९ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।

इसलिये मेरी समझसे वही करिये ।

यतः,—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया कृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३० ॥

क्योंकि—सहस्र [illegible] और सत्य, [illegible] तोले गये तो सचमुच सहस्र अश्वमेधसे सत्यहीका पलड़ा भारी रहा ॥ १३० ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमप्यनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानसंधिर्विधीयताम् ।' सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु ।' ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालंकारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः, प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः । तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदारपुरःसरं संभाषितस्तथाविधं संधिं स्वीकृत्य राजहंससमीपं प्रस्थापितः । दूरदर्शी ब्रूते—'देव ! सिद्धं नः समीहितम् । इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम् । अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति ।

इसलिये सत्य वचनको स्वीकार करके इन दोनों राजाओंको कांचन नाम संधि करनी चाहिये.' सर्वज्ञ बोला–'यही ठीक है.' फिर राजहंसराजाने वस्त्र और अलंकारोंकी भेटसे उस मंत्री दूरदर्शीका सत्कार किया. और वह प्रसन्नचित्त हो कर चक्रवाकको ले कर राजा मयूरके पास गया. और वहां गिद्धके वचनसे चित्रवर्ण राजा बड़े आदरसत्कारपूर्वक सर्वज्ञसे बोल और उसी प्रकारकी अर्थात् कांचननाम संधिको स्वीकार करके राजहंससे बिदा हुआ । दूरदर्शी बोला–'महाराज ! हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ, अब अपने स्थान विंध्याचलकोही लोट कर चलना चाहिये. फिर सभीने अपने अपने स्थान पर पहुंच कर मनोवांछित फल पाया.

विष्णुशर्मणोक्तम्—'अपरं किं कथयामि ? कथ्यताम् ।' राजपुत्रा ऊचुः—'तव प्रसादाद्राज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम् । ततः सुखिनो भूता वयम् ।'

विष्णुशर्माने कहा–'और क्या कहूं ? कहिये ।' राजपुत्र बोले–'आपके प्रसादसे राज्यके व्यवहारका अंग (राजनीति) जाना । और उसीसे हम सुखी हुये ।

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु,—

तब विष्णुशर्मा बोले–'यद्यपि ऐसा है तथापि यह और हो,—

संधिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम् ।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः' ॥ १३१ ॥

विजयशील राजाओंको संधि सदा प्रसन्न करने वाली हो, सज्जन मनुष्य विपत्तिरहित हों. सत्कर्म करने वालोंका यश बहुत काल तक बढ़े, नीति वेश्याके समान सर्वदा मन्त्रियोंके हृदय पर शोभायमान रह कर मुखचुम्बन करती रहे अर्थात् मुख और हृदयमें निवास करे और प्रतिदिन अधिक आनन्द हो ॥ १३१ ॥

अन्यच्चास्तु,—

यह और भी हो कि,—

प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स याव-
द्यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।
यावत् स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयं कथानाम् ॥ १३२ ॥

जब तक चन्द्रशेखर महादेवजी हिमाचलकी कन्या पार्वतीजीके साथ स्नेहपूर्वक बसें, जब तक मेघमें बिजलीके समान श्रीविष्णु भगवान्के हृदयमें लक्ष्मी निवास करे, और जब तक जिसके चिनगारीके समान सूर्य है ऐसा दावानलके समान मेरुपर्वत स्थित रहे तब तक नारायणपण्डितका बनाया हुआ यह कथाओंका संग्रह प्रचलित रहे ॥ १३२ ॥

अपरं च,—

श्रीमान् धवलचन्द्रोऽसौ जीयात् माण्डलिको रिपून् ।
येनायं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः ॥ १३३ ॥

और यह चक्रवर्ती श्रीमान् राजा धवलचन्द्र शत्रुओंको पराजित करें, कि जिन्होंने यह संग्रह यत्न पूर्वक लिखवा कर प्रचार किया ॥ १३३ ॥ इति ॥

पं० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेशग्रंथके संधिप्रकरण चतुर्थ भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ. शुभम्.

समाप्तोऽयं हितोपदेशः ।

परिशिष्ट पहला

परीक्षाप्रश्नपत्रसंग्रहः

Bengal Sanskrit Association

प्रथमपरीक्षा १९४७

१. अधस्तनेषु सन्दर्भेषु द्वयोरनुवादो मातृभाषया कार्यः—

(१) अनन्तरं स सिंहो यदा कदाचिदपि मूषिकशब्दं न शुश्राव तदोपयोगाभावात् तस्य बिडालस्याहारदाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव।

(२) तत्र करपत्रविदार्यमाणकाष्ठस्तम्भस्य कियद्दूरविदीर्णखण्डद्वयस्य मध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र च वनवासी महान् वानरयूथः क्रीडनार्थमागतः। तेष्वेको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः।

(३) एतच्चिन्तयित्वा सञ्जीवक आह—भो मित्र! कथमसौ मां जिघांसुरिति ज्ञातव्यः?। दमनको ब्रूते—यदासौ स्तब्धकर्णः समुद्धतलाङ्गूलः समुन्नतचरणो विकृतास्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि।

२. (क) स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम्॥ १॥
यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ २॥
नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति॥ ३॥
न परस्यापवादेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनावगमं कृत्वा बध्नीयात् पूजयेत वा॥ ४॥

समुल्लिखितश्लोकेषु द्वयोः सरलदेवभाषया व्याख्या क्रियताम्।

(ख) प्रथमप्रश्ने रेखाङ्कितपदेषु त्रयाणांससूत्रं सन्धिविश्लेषः कार्यः।

(ग) "चञ्च्वा" इति पदस्य चतुर्थ्येकवचने "परेषाम्" इति पदस्य प्रथमाबहुवचने परिवर्तनं कार्यम्।

अथवा

"आत्मना" इति पदस्य सप्तम्येकवचने "शिरसा" इति पदस्य च प्रथमाबहुवचने परिवर्तनं कार्यम्।

(घ) द्वितीयप्रश्ने "यस्मिन्" इत्यत्र "स्थान एव" इत्यत्र च कथं का विभक्तिः ?

(ङ) अधोलिखितपदेषु त्रीणि सूत्राण्युल्लिख्य साध्यन्ताम्—
निहितः; शुश्राव; कुरुते; असौ; म्रियते ।

प्रथमपरीक्षा १९४८

१. अधोलिखितेषु सन्दर्भेषु त्रयाणामनुवादो मातृभाषया कार्यः—

(१) ततो दिनेषु गच्छत्सु स पक्षिशावकान् आक्रम्य स्वकोटरमानीय प्रत्यहं खादति । अथ येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिः इतस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत् परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः ।

(२) अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तत्प्रदेशं गच्छन् काकेनावलोकितः । तमालोक्य काकेनोक्तम्—"सखे मृग ! त्वमात्मानं मृतवत् सन्दर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ, अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा किमपि विलिखामि । यदाहं शब्दं करिष्यामि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे ।"

(३) अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्—"अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातं, न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति" इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

(४) ततो हिरण्यकश्च सर्वदापायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति । ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच—"सखे हिरण्यक ! कथमस्मान् न सम्भाषसे ?" । ततो हिरण्यकस्तद् वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—आः ! पुण्यवानस्मि, प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः ।

२. शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १ ॥
शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥ २ ॥

विगुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनि ॥ ३ ॥

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ४ ॥

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ ५ ॥

(क) उल्लिखितश्लोकेषु त्रयाणां सरलसुरगिरा व्याख्या क्रियताम् ।

(ख) प्रथमप्रश्ने रेखाङ्कितपदेषु पञ्चानां ससूत्रं सन्धिविश्लेषः कार्यः ।

(ग) "वेश्मनि" इति पदस्य प्रथमैकवचने, "पन्थाः" इति पदस्य च चतुर्थ्येकवचने परिवर्तनं क्रियताम्

अथवा

"चक्षुषी" इति पदस्य षष्ठीबहुवचने, "चन्द्रमसि" इति पदस्य च प्रथमैकवचने परिवर्तनं क्रियताम् ।

(घ) प्रथमप्रश्ने "गच्छत्सु" इत्यत्र, "अनुसरणक्रमेण" इत्यत्र च कथं का विभक्तिः ?

(ङ) अधोलिखितेषु त्रीणि सूत्राण्युल्लिख्य साध्यन्ताम्—
सन्दर्श्य; उत्थाय; जाने; उक्त्वा; प्रबुद्धः ।

३. किं तावत् पण्डितलक्षणम् ? के तावद् दुःखभागिनः ?

अथवा

कस्तावद् बान्धवः ? के वा स्वर्गगामिनः ? मित्रलाभादुद्धृत्य श्लोकद्वयं लिख्यतां धीमद्भिः ।

प्रथमपरीक्षा १९४९

१. अधोलिखितेषु सन्दर्भेषु त्रयाणामनुवादो मातृभाषया कार्यः—

(क) सखे ! सविशेषं पूजामस्मै विधेहि; यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो मूषिकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रेण यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात् ।

(ख) अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च । ततः केनचिद् धार्मिकेणाहमुपदिष्टः—दानधर्मादिकं चरतु भवानिति । तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः ?

(ग) [illegible] हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत्—'साधु मित्र! साधु, अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते'। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि।

(घ) युष्मान् धर्मज्ञानरतान् विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति। अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः।

(ङ) चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन कच्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं तत्र गन्तव्यम्।

२. (क) (घ) चिह्नितप्रश्ने "विश्वासभूमयः" इत्यत्र "भवद्भ्यः" इत्यत्र च कथं का विभक्तिः?

(ख) प्रथमप्रश्ने रेखाङ्कितपदयोः व्यासवाक्योल्लेखपूर्वकं समासनाम-निर्देशः क्रियताम्।

(ग) अधोलिखितेषु द्वयोः सूत्राण्युल्लिख्य सन्धिविश्लेषः कार्यः—
बन्धान्मे; सन्नब्रवीत्; इत्याकर्ण्य।

(घ) चञ्चु-शब्दस्य षष्ठ्येकवचने भूमि-शब्दस्य च सप्तम्येकवचने रूपाणि लिख्यन्ताम्।

३. अधोलिखितश्लोकेषु त्रयाणां सरलसुरगिरा व्याख्या क्रियताम्—

(१) अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते॥

(२) सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य सर्वा चर्मावृतेव भूः॥

(३) अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

(४) प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

४. अधोलिखितश्लोकस्य मातृभाषया सरलार्थो लिख्यताम्—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

परिशिष्ट दूसरा

हितोपदेशकी श्लोकसूची।